उपनिषद् सिद्धान्त एवं वेदान्त रत्नावली

स्वामी निरंजन

उपनिषद् सिद्धान्त एवं वेदान्त रत्नावली

लेखक : **स्वामी निरंजन** ,
प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्रष्ट**
द्वितीय मुद्रण : **गुरु पूर्णिमा -२००१**
पुस्तक संख्या : **१०००**
अक्षर रूपायन एवं मुद्रण: **दिव्य प्रकाशनी**
दिव्य विहार, सामन्तरापुर, भुवनेश्वर - २, फोन : ४३६५६६
प्रच्छद पस्तुति : **सुधिर लेंका**
डिजिटल् बाइंडिंगस्: **गणेश ष्टेसनारी वार्कस्**,लक्ष्मी सागर, भुबनेश्वर- ६

मूल्य : **रु १००/-**

Panchadashi Prasnattori Dipika

Author: **SWAMI NIRANJAN**
Publisher : **Niranjan Book Trust**
Second Edition : **Guru Purnima - 2001**
Number of Copies : **1000**
Letter Design & Printed by : **Divya Prakashani**
Divya Vihar, Samantarapur, Bhubaneswar-2, Ph : 436566
Cover Layout : **Sudhir Lenka**
Digtal Perfect Bindings: **Ganesh Stationary Works,**
BBSR-6

Price : **Rs 100 /-**

प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्रष्ट**

द्वितीय मुद्रण : **२००८**
मुद्रण एवं अलंकरण : **दिव्य मुद्रणी,** भुवनेश्वर - २ (उड़िसा) फोन : २३४०१३६
प्रच्छद प्रस्तुति : **विभु**
मूल्य : **रु ५०/-**

सप्रेम सादर समर्पित

गुरु पूर्णिमा महोत्सव

के उपलक्ष पर

ब्रह्मलीन

श्री मोहनलाल खण्डेलवाल

की आत्म स्मृति में

परम गुरुदेव वेदान्त केसरी

स्वामी निरंजनजी महाराज

द्वारा रचित इस ''***उपनिषद् सिद्धान्त एवं वेदान्त रत्नावली***'' लघु ग्रन्थ को छपवाकर वेदान्त ज्ञानार्जन हेतु प्रकाशित करवाने का सौभाग्य हमें ''**निरंजन बुक् ट्रष्ट**'' की ओर से प्राप्त हुआ है, उसके लिये हम सभी खण्डेलवाल परीवार आभारी है ।

आशा है, ट्रष्ट हमारे इस अनुदान को स्वीकार करते हुए भविष्य में भी इसी प्रकार सेवा का सौभाग्य प्रदान कराते रहेंगे ।

– निवेदक –

श्रीमती गुलाव देवी खण्डेलवाल

उपनिषद् सिद्धान्त और वेदान्त रत्नावली

उपनिषद् क्या एवं क्यों ?

उपनिषद् अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्म विद्या को कहते हैं । वेद का अन्तिम भाग होने के कारण इसे वेदान्त भी कहते हैं । उपनिषद् वेद का ज्ञान काण्ड है । यह चिर प्रदिप्त वह ज्ञान दीपक है जो सृष्टि के आदि से प्रकाश देता आ रहा है एवं सृष्टि के लय पर्यन्त भी ज्यों का त्यों देता रहेगा क्योंकि ज्ञानका नहीं होता ।

प्राणीयों के बाह्य अर्थों का प्रकाश करने वाली तथा नाना प्रकार से उपकार करने वाली अनेक विद्याऐं हैं; परन्तु परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष को प्रदान कराने वाली, प्रकाश करने वाली, परमार्थ को देने वाली परम उपकारिणी तो एकमात्र ब्रह्म विद्या उपनिषद् ही है ।

वेद के चार भाग बताये जाते हैं । संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् । संहिता आदि भाग में कर्म, उपासना आदि मार्गों का उल्लेख हुआ है । उपनिषद् में केवल जीव ब्रह्म एकत्व ज्ञान का ही प्रतिपादन है अतएव उपनिषद्-विद्या (ब्रह्मविद्या) अन्य विद्याओं की अपेक्षा प्रधानतम एवं गौरवमयी है । इसी विद्या को लक्ष्य करके कहाजाता है कि ''**सा विद्या या विमुक्तये**'' वही वास्तविक विद्या है, जो मोक्ष दिलाने में सहायक हो । इसी वात को योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं - 'समस्त विद्याओं में अध्यात्म विद्या मैं हूँ'

''अध्यात्म विद्या विद्यानाम्''

- (१०/३२/ - श्रीगीता)

''राजविद्या राजगुह्यं पवित्रन्नमिदमुत्तमम्''

- - गीता - ९/२

मुण्डक उपनिषद् में कहा है **''अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते''** पराविद्या वह है जिससे उस अविनाशी ब्रह्मका ज्ञान होता है। इत्यादि सब श्रुतियां इसी को मोक्ष दायिनी विद्या ''अध्यात्म विद्या'' ''पराविद्या'' ''ब्रह्म विद्या'' आदि नाम से पुकारते है। मोक्ष प्रदायिनी होने से इसे सर्वश्रेष्ठ कहा है।

संसार सम्बन्धी भौतिक बाह्य ज्ञान से सच्ची शान्ति कदापि नहीं मिल सकती। उपनिषदुक्त आत्म स्वरूप के सम्यक् ज्ञान से ही मनुष्य शोक-मोह से निवृत्त होकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

'तरति शोकमात्मवित्'
'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'
'ज्ञात्वा शिवं शान्ति मत्यन्त मेति'

आदि प्रमाण वाक्य है।

उपनिषद् का अर्थ: अध्यात्मविद्या 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग पूर्वक सद् धातु में क्विप् प्रयत्न जोड़ने पर 'उपनिषद्' शब्द निष्पन्न होता है जिसके परिशीलन से संसार की कारण भूता अविद्या का नाश हो जाता है। गर्भवासादि दुःखों से सर्वथा छुटकारा मिल जाता है और परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है उसी का नाम उपनिषद् है।

वेद विद्या का चरम सिद्धान्त है।

''एकमेवा द्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन''

- त्रिपाद्विमूतिमहान्नां - (३-३)

एकत्व का प्रतिपादन कर उपनिषद् जीव को अल्पज्ञान से निकाल कर अनन्त ज्ञान की और, अल्पसत्ता और सीमित सामर्थ्य से अनन्त तथा असीम सत्ता और शक्ति की ओर, जगदुःखों से अनन्तानंद की ओर और जन्म-मृत्यु-बन्धन से मुक्ति दिला अनन्त स्वातन्त्रय मय शाश्वती शान्ति की ओर ले जाती है।

उपनिषद् सद्गुरुओं से प्राप्त करने की वस्तु है। बिना सद्गुरु के उस ब्रह्म विद्या का रहस्य नहीं जान सकते। क्योंकि अनाधिकारी के साधन सम्पत्ति हीन

वासना सहित अन्तःकरण में ब्रह्मविद्या का प्रकाश नहीं हो पाता । जिस प्रकार मलिन वस्त्रपर रंग ठीक से नहीं चढ़ पाता या बंजर भूमि में उत्तम बीज भी नष्ट हो जाता है । लम्बी-लम्बी घास जहाँ पहले से ही गहराई में जड़े जमा बैठी है वहाँ धान्य बीज अङ्कुरित नहीं होता अगर हो भी जाय तो भी फलित नहीं होता । उसी प्रकार अनाधिकारी के वासना पूर्ण अन्तःकरण में ब्रह्मविद्या का उपदेश बीज अङ्कुरित नहीं होता और यदि कुछ अङ्कुरित हो भी जाय तो आत्मनिष्ठा रूपी वृद्धि और जीवन्मुक्ति रूपी फल की प्राप्ति नहीं होती, इसीलिये शास्त्रों में अधिकारी शिष्य की भली प्रकार परीक्षा लेकर ही ब्रह्म विद्या देने का सर्वत्र विधान है । जिस तरह सद्गुरु के लिये शिष्य की परीक्षा का विधान है, उसी प्रकार गुरु को भी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होना परमावश्यक श्रुतिमें बताया गया है ।

''तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।''

- मुण्डक - १/२/१२

भगवत् गीता में भी आदेश किया है अर्जुन के प्रति -

''तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्षन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिन स्तत्त्वदर्शिनः ।।

- श्रीमद्गीता ४/३४

श्रोत्रिय अर्थात् वेदार्थ का ज्ञाता और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् अपरोक्षज्ञानी तत्त्वदशी गुरु को सेवाद्वारा प्रसन्न करके उनसे ब्रह्मविद्या का उपदेश श्रवण करें फिर युक्तियों द्वारा उसपर गंभीरता से मनन करते हुए गुरूपदिष्ट ध्यानादि के द्वारा निदिध्यासन पूर्वक 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् 'सोऽहम्'' मन्त्रका निरन्तर विचार करते हुए उस पर निष्ठारूढ़ होकर सम्यक् प्रकार से परब्रह्म सत्ता में प्रवेश करके तद्रुप हो जाता है ।

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'जीवो ब्रह्मैव ना परः'

जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से पृथक् नहीं है । ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है । और उपनिषद् का यह आदेश जीव के लिये परम सौभाग्यस्पद अमुल्य वरदान है ।

''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' ''तत्त्वमसि''

छान्दोग्य उप. - ६-८-७

यह समस्त (भासमान द्वैत प्रपंच) वास्तव में ब्रह्म ही है और वह (ब्रह्म) तू है। (छान्दोग्य उपनिषद् में अरुणी तथा श्वेतकेतु संबाद में "तत्त्वमसि उपदेश)।

यह समस्त उपनिषदों के तत्त्वज्ञानोपदेश का सारांश है। इस में निष्ठा न होना ही अज्ञान है। जीव ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी अविद्या के कारण अपने वास्तविक अजन्मा, अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दमय आत्म स्वरूप को विस्मृति कर अपने को जन्म-मरणधर्मा कर्त्ता-भोक्ता, सुख दुःखवान मान बैठा है और मिथ्या जगत् में सत्य बुद्धि करके स्वनिर्मित कर्म पाश में स्वयं बँधकर जन्म-मरण संसृति में फँसा हुआ अनन्त दुःख भोग रहा है। जीव के सकल दुःखों का कारण एक अविद्या-अज्ञान ही है। इस अविद्या की निवृत्ति के लिये उपनिषदों में जीव ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन के साथ जगत् के मिथ्यात्व का भी उपदेश हुआ है। "**ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या**"

ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है। जिस् प्रकार मंद अन्धकार में रज्जु ही सर्प रूप दिखलायी देती है, उसी प्रकार अविद्या में निर्गुण निराकार ब्रह्म सत्ता ही सगुण साकार जगद्रुप दिखलायी देती है। जिस प्रकार मंद अन्धकार के कारण वास्तविक रज्जु नहीं दिखलायी पड़ती है, बल्कि अवास्तविक सत्ताहीन सर्प ही प्रतिभासित होता रहता है। उसी प्रकार अविद्या के कारण वास्तविक (पारमार्थिक) सत्तामय ब्रह्म प्रतीत नहीं होता है। वस्तु एक ही है - जो रज्जु है वही भ्रमावस्था में सर्प रूप है। उसी प्रकार ज्ञानावस्था में जो ब्रह्म है वही भ्रमावस्था (अज्ञान की अवस्था) में जगद्रुप् है। जगत की सत्य प्रतीति और ब्रह्म की अप्रतीति तबतक होती रहती है, जबतक अविद्यान्धकार की निवृत्ति नहीं होती। विद्या रूपी प्रकाश द्वारा अधिष्ठान का निश्चय होते ही स्पष्ट हो जाता है कि सर्वाधिष्ठान ब्रह्मसत्ता ही परमार्थिक सत्य है और रज्जु में अध्यस्त सर्प के समान ब्रह्म में यह अध्यस्त जगत् मिथ्या है। इस प्रकार सद्गुरूओं से भली प्रकार श्रवण कर जिज्ञासु जीव ब्रह्मैक्य निष्ठा सम्पादन द्वारा निश्चय कर लेता है कि एकमात्र अद्वितीय त्रिकाल बाधित ब्रह्मसत्ता ही सत्य है। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। इस प्रकार दृढ़ बोधवान ज्ञानी कृतकृत्य होकर निज नित्यबोधमय स्वरूप में प्रतिष्ठित् हो जीवन्मुक्ति का परमानन्द लाभकर ब्रह्म के साथ सोऽहम् भाव को प्राप्त हो जाता है।

"**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" ऐसा भी वेद वाक्य है । उसका कारण यह है कि जैसे मंद अंधकार में रज्जु ही सर्प रूप भ्रम से दिखाई पड़ती है, किन्तु अंधकार के पूर्व एवं पश्चात् वह रस्सी ही है । जो सर्प प्रतीत होता है वह रस्सी से भिन्न सत्ता वाला नहीं है । अतः रस्सी ही सत्य है, भ्रम जनित उत्पन्न सर्प मिथ्या है । उसी प्रकार अविद्या में निर्गुण निराकार ब्रह्म सत्ता ही सगुण साकार जगद्रुप दिखाई देती है । वस्तु तत्त्व एक ही है । '**जीवो ब्रह्मैव नापरः**' अज्ञान में सगुण साकार जगत् ही ज्ञान में निगुर्ण निराकार ब्रह्म है । जबतक अविद्या की निवृत्ति विद्या द्वारा नहीं होगी जीव को कभी स्थायी शान्ति नहीं मिल सकती है ।

'**आत्मैवेदं सर्वम्**', **ब्रह्मैवेदं सर्वम्**', '**एतदात्म्यमिदं सर्वम् नेह नानास्ति किञ्चन**', '**मृत्योः स मृत्यु मा प्नोति य इह नानेवपश्यति**'- इत्यादि ।

इस प्रकार आध्यारोपित (कल्पित) जगत् का अपबाद (अस्वीकार) करती हुई श्रुतियाँ एक अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म सत्ता का प्रतिपादन करती है । इससे यह स्पष्ट ही है कि उपनिषद्रों में यत्र यत्र जगत् उत्पत्ति, स्थिति लय सम्बन्धी जो द्वैत बोधक श्रुतियों पाई जाती है, उनका प्रयोजन द्वैत प्रपञ्च के प्रतिपादन में नहीं है किन्तु शुद्ध ब्रह्म में जगत् का अध्यारोप करके उसके अपबाद द्वारा एक अखण्ड अद्वितीय निर्गुण ब्रह्मसत्ता की सिद्धि करना ही उनका लक्ष्य है ।

'**अध्यारोपापबादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयते**'

यही सिद्धान्त कार्यान्वित हुआ है । इसके अतिरिक्त तत्त्वोपदेश का और कोई प्रकार नहीं है कि जिसके द्वारा परमार्थ दृष्टि से जीव के अपने ही एक अद्वितीय अखण्ड स्वरूप में अनादि काल से चला आता हुआ यह जगत् भ्रम निवृत्त हो सके और जीव अपने वास्तविक अद्वितीय, अखण्ड स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर शान्ति का अनुभव कर सके ।

ज्ञान स्वरूप नित्य बोधमय निजरूप आत्मा में प्रतिष्ठित होकर शाश्वत शान्तिमय जीवन को प्राप्त हो जाना ही जीव का परम पुरुषार्थ है । इस परम पुरुषार्थ की प्राप्ति औपनिषद-ज्ञान निष्ठा द्वारा ही होती है । बिना तत्त्वनिष्ठा हुए कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती है, यही उपनिषद् का सिद्धान्त है - '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'

FFF

''द्वितीया द्वै भयं भवति''

- बृहद्गारण्यक उप. १/४/२

दुःख के मूल का नाश हुए बिना दुःखों का आत्यन्तिक नाश नहीं हो सकता । यद्यपि कर्म-उपासना आदि धर्म कर्म द्वारा अथवा खेत, व्यपार, घर, आदि ईन्द्रयों के विषय द्वारा तत्काल प्राप्त होने वाला सुख कुछ न कुछ दुःखों कि निवृत्ति तो करते हैं । यद्यपि जिससे दुःखों की पुनः उत्पति न हो. इस प्रकार की समस्त दुःखों अत्यन्त निवृत्ति तो, दैहिक, दैविक् तथा भौतिक आदि त्रिविध दुःखों के मूल देहाध्यास रूप अज्ञान की निवृत्ति हुए बिना संभव नहीं

ज्ञात्वा देवं सर्व पाशाप हानिः क्षीणैः
क्लेशैर्जन्म मृत्यु प्रहाणिः ।।

दुःख का मूल ही जन्म है ।

''**न ह वै स शरीरस्य सतः प्रियाप्रिय योरपहतिरस्ति**''

- छान्दोग्य ९/१२/१

'निश्चय पूर्वक जब तक यहि शरीर बना हुआ है तबतक सुख और दुःख का निवारण नहीं हो सकता । '

किन्तु शरीर का कारण कौन है ? तो ज्ञात हुआ है कि मनुष्य का शुभाशुभ कर्म ही जन्म-मरण के पाश में बांध नचाया करता है । यदि मनुष्य कर्म करने से विराम ले ले, तो दुःख निवृत्ति हस्तामलवत हो सकती है, किन्तु कर्म किये बिना मनुष्य एक क्षण भी अकर्मा नहीं रह सकता ऐसा निश्चय प्रकृति का सिद्धान्त है ।

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

- गीता ३/५

प्रकृतिजन्य कर्म सबको परवश बना कर क्रिया कराते रहते हैं । अतः विचार द्वारा फिर जाना कि जब तक कर्म का मूल का पता नहीं लगेगा तव तक कर्म से अकर्म नहीं हुआ जा सकता है । विचार करने से पता चला कि कर्म मूल राग या

द्वैष है । जिस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है उसके प्रति राग व न मिलने पर द्वैष होता है । जबतक वस्तु की प्राप्ति या परित्याग के लिये प्रयत्न रूप कर्म होते रहते हैं , तबतक राग-द्वैष होता रहता है । फिर उस राग-द्वैष का मूल कारण जानने की इच्छा हुई कि यह क्यों होता है ? तो पता लगा कि अपने से अतिरिक्त दूसरे का भान होना ही समस्त दोषों का मूल कारण है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं । जैसे कि -

''द्वितीया द्वै भयं भवति''

बृहदारण्यक उपनिषद् (१/४/२)

निश्चय ही दूसरे से भय होता है । यदि दूसरी वस्तु का भान ही नहीं होगा तो कर्म के मूलभूत भय, राग, द्वैष का कोई आधार न रह जाने के कारण भय आदिका प्रश्न ही नहीं होगा ?

यत्र ऽवस्य सर्वमात्मैवाभूत, तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कं श्रृणुयात्, तत्केन कं विजानीयात् ।

- बृहदा उप. २/४/१४

जिस अवस्थामें इसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो जाता है । उस समय किसके द्वारा किसको देखे, किसके द्वारा किसको सुँघे, किसके द्वारा किसको सुने किसके द्वारा किसको जाने ?

तब फिर द्वैत भाव होने का मूल कारण क्या है एवं उस कारण को दूर किस प्रकार किया जा सकता है ? यह जिज्ञासा का उदय होना स्वभाविक ही है । तो उस संबन्ध में तत्त्वज्ञ कहते हैं कि द्वैत भान का कारण अविद्या अज्ञान ही है और ज्ञान ही अज्ञान का एक मात्र विरोधी है । अर्थात् अज्ञान की पूर्णतया कारण सहित निवृति केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकती है, अन्य करोड़ों कर्मों से नहीं और वह ज्ञान जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान है । एकमात्र ब्रह्म ही बिना किसी उपचार के परमार्थ सत्य है तथा उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ मिथ्या एवं कल्पित अध्यस्थ हुए हैं । मन को निग्रह और भगवदुपासना आदि अन्य समस्त शास्त्र प्रसिद्ध साधन इस ब्रह्म व आत्मा के एकत्व साक्षात्कार की उत्पत्ति में ही प्रयोजक होने के कारण पहली सीढ़ी है अन्तिम नहीं ।

अद्वैत वेदान्त प्रक्रियानुसार जीव अविद्या की तीन शक्तियाँ से आवृत है । १. मल, २. विक्षिप्त या विक्षेप और ३. आवरण । इस में मल - अन्तःकरण के मलिन संस्कार जनित दोषों की निवृत्ति निष्काम कर्म से होती है । विक्षेप - अर्थात् चित्त का चंचलता का नाश उपासना से होता है । और आवरण - अर्थात् स्वरूप विस्मृति का नाश तत्त्वज्ञान से ही होता है । सकाम कर्म करने वाले स्वर्गादिक लोकों को जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर पुनः जन्म लेते हैं । और निष्काम कर्मी अपने उपास्य देव के लोक में जा कर अधिकार अनुसार 'सालोक्य', 'सामीप्य', 'सारूप्य', या 'सायुज्य' मुक्ति विशेष प्राप्त करते हैं । किन्तु इन सकाम तथा निष्काम कर्मियों से भिन्न जो तत्त्वज्ञानी होते हैं उनके प्राणों का उत्क्रमण - लोकान्तर गमन नहीं होता है अर्थात् उनके शरीर अपने-अपने तत्त्वों में यहीं लीन होने से उन्हें कैवल्य पद प्राप्त हो जाता है । संत तुलसी दास के शब्दों में -

अति दुर्लभ कैवल्य परमपद । संत पुरान निगम आगम बद ।।
''ज्ञान मोक्ष प्रद वेद वखाना ।।''

इहैव तैर्जितःसर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं ही समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ।। - गीता : ५/१९

ब्रह्मविद्या के प्रसाद से समत्वदर्शन होता है । अज्ञान की ग्रन्थियों का भेदन होकर समस्त संशय का नाश हो जाता है अर्थात् छेदन हो जाता है एवं चित्त अन्तर्मुखी हो जाता है । ब्रह्म विद्या से ही मिथ्यानुभूति का अर्थात् प्रपञ्चात्मक जगत् का नाश होकर स्वयं प्रकाश, अखंड, विज्ञान स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । ब्रह्म विद्यारूप अमृतपान का अकथनीय महत्व है । जिसने उस अमृत का पान किया वह मुक्त हो गया, फिर उसके लिये न कुछ कर्तव्य है न प्राप्तव्य । ब्रह्म वेत्ता की दृष्टि में सारे प्रपञ्च पसार का विलय होकर सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है । फिर उसे किसी का न भय रहता है न राग-द्वैष, न कर्म, न जन्म, न दुःख । वह संसार को फिर असत्, जड़ और दुःखरूप नहीं देखता । उसकी दृष्टि में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' अर्थात् जगत् ब्रह्म स्वरूप ही दृष्टि पात होता है । उसकी दृष्टि में तो द्रष्टा, दृश्य और दर्शन रूप त्रिपुटी का भी विलय हो जाता है । वह तो एक निश्चल, निर्वाक्, निष्कल और चिदानन्दघन सत्तामात्र रह जाता है । फिर उसके द्वारा जो भी कार्य होते हैं, वह केवल अज्ञानि लोगों की दृष्टि में ही होते हैं । ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में

तो न कोई कार्य है और न कोई करने वाला; क्योंकि तत्त्वदर्शी को एक अखंड चिद्घन वस्तु को छोड़कर उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, बद्ध-मुक्त साधक, मुमुक्षु आदि कुछ भी भेद को नहीं देखते हैं ।

ब्रह्मतत्त्व अत्यन्त ही दुर्लभ, है क्योंकि निरन्तर व्यवहार में रत रहने वाले विषयी जीवों की दृष्टि इस व्यवहारातीत लक्ष्य तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है । परम रहस्यमय आत्मतत्त्व का बोध करने वाली ब्रह्मविद्या ही है । यह आत्मतत्त्व अन्य सब रहस्यों से अधिक रहस्यमय है । श्रीमद्भगवत् गीता ९/२

राज विद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्

क्योंकि यह आत्मदेव हमारे अत्यन्त निकट हमारे भीतर ही है । किन्तु माया द्वारा मोहित हुए अज्ञानि मनुष्य इसे नहीं जान सकते, इसलिये उनके लिये ब्रह्म दूर से दूर होते हैं । तथा आत्मज्ञानी उसे सोऽहम् रूप से नित्य अनुभव करता रहता है, इसलिये वह उसके समीप से समीप है । इस आत्मतत्त्व को जान लेने के बाद फिर अन्य कोई वस्तु जानने योग्य नहीं रहती । इसके जान लेने से समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है ।

एतनज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ॥

- १/१२ श्वेता.उप

ज्ञान ज्ञेयं ज्ञान गम्य हृदय सर्वस्य विष्ठितम्

- गीता १३/

ये परमदेव परब्रह्म पुरुषोत्तम अपने ही हृदय में साक्षीरूप से विद्यमान है । इनको प्राप्त करने के लिये कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है । इन्हीं को सदा मैं रूप से, 'सोऽहम्' रूप से, 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप से जानने की चेष्टा करना चाहिये । क्योंकि इनसे श्रेष्ठ जानने योग्य कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं । इन एक को जानने से ही सबका ज्ञान हो जाता है । जैसे एक मिट्टी के ज्ञान होने से मिट्टी से निर्मित सभी आकृति का रहस्य प्रकट हो जाता है । नाम रूप तो वाणी का विकार मात्र है, सत्य तो एक मिट्टी ही है । कारण से कार्य पृथक् अस्तित्व नहीं रखता । इसी प्रकार ब्रह्म ही सबके कारण एवं अधिष्ठान है । जैसे भ्रान्ति से प्रतीत होने वाला सर्प का अधिष्ठान एक रस्सी ही है । सर्प तो अध्यस्त मात्र है ।

वेद का अर्थ है ज्ञान । वेद पुरुष के शिरोभाग (अन्तिम) को उपनिषद् कहते हैं । उप (व्यवधान रहित) नि (सम्पूर्ण) षद् (ज्ञान) ही उसके अवयवार्थ है । यह ज्ञान सर्वोत्तम ब्रह्म ही है जो देश, वस्तु तथा काल परिच्छेद रहित परिपूर्ण ब्रह्म है उपनिषद् पद का अभिप्रेत अर्थ है ।

ज्ञान स्वतः प्रमाण है । परतः प्रमाण नहीं । किसी पदार्थ का यथार्थ निर्णय करने में ज्ञान ही अन्तिम प्रमाण होता है । सम्पूर्ण व्यवहारों का आधार एकमात्र ज्ञान ही है । अभाव-भाव का (होने न होने का) निर्णय ज्ञान द्वारा ही होता है । विषय की सत्ता इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियों की मन द्वारा, मन की बुद्धि द्वारा और बुद्धि की ज्ञान स्वरूप आत्मा से निश्चित होती है । अज्ञान का अनुभव भी ज्ञान ही है । 'मैं अज्ञ हूँ' यह भाव भी एक प्रकार ज्ञान ही है । अज्ञान ज्ञान का बाध नहीं कर सकता । ज्ञान के बाध करने की कल्पना भी बिना ज्ञान के संभव नहीं हो सकती । ज्ञान का बाध अज्ञात होगा या ज्ञात ? यह प्रश्न का उत्तर भी ज्ञान की सिद्धि करता है । ज्ञान स्वरूप सत् अक्षुण्ण एवं अखंड सिद्ध होता है ।

प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय रूप त्रिपुटी, ज्ञान के द्वारा ही प्रकाशित होती है । इसलिये ज्ञान की सिद्धि के लिये किसीकी अपेक्षा नहीं है । बल्कि त्रिपुटी के भाव तथा अभाव का प्रकाशक भी ज्ञान ही है । वे रहें तब भी ज्ञान है, न रहें तब भी ज्ञान है । ज्ञान के बिना त्रिपुटी के भाव-अभाव का अनुभव कौन करेगा ? त्रिपुटी में ज्ञान का अन्वय है, और ज्ञान से त्रिपुटी व्यतिरिक्त है, इसलिये ज्ञान की सत्ता अखण्ड है । प्रमाणों के द्वारा ज्ञान की सिद्धि नहीं होती । ज्ञान से ही समस्त प्रमाणों एवं व्यवहारों की सिद्धि होती है ।

"ज्ञान अखंड एक सीतावर" - रामायण

ज्ञान स्वयं प्रकाश है । वह कर्त्ता, क्रिया एवं करण तथा उसके फल के आधीन नहीं है । मान्यता विचार भिन्न हो सकते हैं किन्तु ज्ञान समस्त का एक ही होता है । कर्ता करोड़ प्रयत्न करके भी सुखे कटे वृक्ष (स्थाणु) ज्ञान को पुरुष ज्ञान नहीं सकता । मान्यता कर्मी के अधीन होती है । वह अपनी मानी हुई वस्तु को गणेश माने, शंकर माने, सूर्य माने, लक्ष्मी माने या दुर्गा, अम्बा, काली या कुछ अन्य माने या बिलकुल छोड़ दे - इन सब बातों में स्वतन्त्रता है । परन्तु वह ज्ञान

नहीं है वह तो कर्ता की कृति है, जिसको वह स्वयं गढ़ता है और बाद में स्वतन्त्र रूप से उसे मानता रहता है । ये मान्यताऐं प्रत्येक व्यक्ति की, सम्प्रदाय की, जाति की, प्रान्त की और राष्ट्र की अलग-अलग हो सकती है, और होती है । परन्तु वस्तु का यथार्थ ज्ञान एक ही होगा ।

अथार्थ ज्ञान में किसी का भेद न होगा वह भिन्न-भिन्न नहीं होगा । भिन्न भिन्न चोर, सिपाही, भूत रूप में भले ही प्रथम मान ले किन्तु ज्ञान सबका एक ही होगा कि यह स्थाणु, अचलात्मा है । पुरुष भेद से ज्ञान में भेद नहीं हो सकता । ज्ञान एक ही है । वह किसी पुरुष की अनुभूति, भावना, स्मृति, अथवा कल्पना नहीं है । ज्ञान स्वयं प्रकाश है । सर्वानुभव स्वरूप सृष्टि-प्रलय, समाधि-विक्षेप, आदि समस्त प्रतीयमान व्यवहारों का प्रकाशक है । अखंड, अजन्मा, एवं स्वतःप्रमाण है । इसका सम्बन्ध-भूत, भविष्य, वर्त्तमान से भी नहीं है । और सब कुछ यही जानना है अन्य कुछ भी नहीं जानना है । ''कुछ नहीं'' भी यही है । इसका अभिप्राय है कि जो देश, काल, वस्तु परिच्छेद रहित स्वानुभव स्वरूप अपना आत्मा ही वह परब्रह्म है । जब देश एवं काल भर कल्पित् है तब उनके आश्रित् प्रतीत होने वाले विषय अकल्पित् कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् वे भी कल्पित् है । ज्ञेय बिना ज्ञातृत्व के व्यवहार की सिद्धि नहीं हो सकती । ज्ञेय और ज्ञाता दोनों ही एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं । परन्तु ज्ञान किसी की भी अपेक्षा नहीं रखते हुए स्वतः सिद्ध है । यहाँ तक कि ईश्वर भी ज्ञान का कर्त्ता नहीं होता । वह तो स्वयं ज्ञान स्वरूप है । यदि ईश्वर को ज्ञान का कर्त्ता माने तो ज्ञान रूप कर्म के पूर्व ईश्वर में ज्ञान का अभाव स्वीकार करना पड़ेगा । किन्तु ज्ञान का अभाव किसी भी प्रमाण द्वारा अथवा अनुभव से सिद्ध नहीं होता । फिर वह प्रमाण अथवा अनुभव भी तो ज्ञान रूप ही होगा । अस्तु ज्ञान साधन साध्य नहीं किन्तु स्वतः सिद्ध है । वह स्वयं प्रकाश है ।

ज्ञान काल परिच्छेद भी नहीं है । काल परिच्छेद का कहना भी ज्ञान के बिना संभव नहीं । वह क्षण ही क्या है जिसकी पृथकूता का आरोप ज्ञान पर कियाजाय ? अस्तु कोई क्षण ज्ञान से पृथक् नहीं । काल के समान देश से भी कोई उसका अभाव नहीं उसी प्रकार अणु अणु में व्याप्त होने से वस्तु परिच्छेद भी नहीं है । ज्ञान हेतु फलात्मक नहीं है । ज्ञान का जन्म नहीं होता । अन्तःकरण की शुद्ध स्थिति अथवा निर्विषयता भी ज्ञान की जननी नहीं है । विचार की जननी है ज्ञान, ज्ञान के

अभाव में विचार का उदय नहीं होता । ज्ञान के बिना किसी भी विवेक (ज्ञान-अज्ञान) की स्थिति नहीं बतलायी जा सकती । ज्ञान में यथार्थ अयथार्थ और परोक्ष-अपरोक्ष भी नहीं । स्वप्न का हाथी झूठा है किन्तु स्वप्न का देखना झूठ नहीं । हाथी की असत्ता ज्ञान की असत्ता नहीं कही जा सकती । अतः ज्ञान सत्य है, चित् है, आनन्द है ।

FFF

ब्रह्मविद्या की महिमा

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

- गीता : १८/१७

हे राजन् ! जिस आत्मज्ञानी के मन में क्रियाओं में कर्तापन का अभिमान नहीं है और जिसकी बुद्धि कहीं भी लिप्त नहीं होती ऐसा पुरुष प्रारब्ध अनुसार मन, वचन तथा कर्म द्वारा मातृवध, पितृवध, गुरुवध, गोवध यहाँ तक कि सारे जगत की हत्या करदे तो भी तत्त्वज्ञानी किंचित् भी पाप से नहीं बन्धता है । पाप कर्म हो जाने पर भी उसके मुख की आभा मलिन नहीं होती है । यह ब्रह्मज्ञान की गरिमा है, व्यक्ति की नहीं । ब्रह्महत्या कर्त्ता को लगती, है चिदात्मा साक्षी को नहीं । आत्मा तो सभी का निष्पाप, एकरस, एवं मुक्त ही है चाहे वह चाण्डाल हो या ब्रह्मज्ञानी । भेद इतना ही है कि अज्ञानि देहादिक संघात को 'मैं' करके मानता है एवं उनके गुण, धर्म, क्रिया को 'मेरा' करके जानने के फल स्वरूप ही उसे निम्न योंनियों एवं नरकादिकों का गमनागमन बना रहता है । इसी कारण कर्तृत्वाभिमानी अज्ञानि के मुख पर ग्लानि आ जाने से उसका तेज क्षीण होकर मुहँ काला हो जाता है ।

हे राजन् ! इस् ब्रह्मविद्या के प्रभाव से मैंने ब्रह्मविद्या से रहित प्रजापति के पुत्र विश्वरूप ब्राह्मण को वज्र से मार डाला । कितने ही आत्मज्ञान से विमुख संन्यासियों को जो केवल कर्मकाण्ड में ही रत थे और आत्मज्ञान का उपहास करते थे उन संन्यासियों की हत्या कर उनका मांस कुत्तों के सम्मुख डाल उन्हें खिलवा

दिया। फिर भी आत्मज्ञान के प्रभाव से मेरा किंचित् भी अहित नहीं हुआ। मेरे द्वारा मारे गये संन्यासी बाद में व्यास एवं नारदादि ऋषियों की संतति में उत्पन्न हो ब्रह्मात्म एकता बोध को प्राप्त हो मुक्त होपाये। इस प्रकार मैं ने कई कर्मकांण्ड से मोक्ष की आशा रखने वालों को मृत्युदण्ड प्रदान किया। कितनी ही बार प्रहल्लाद के परिचालक एवं दैत्य राजाओं को मौत के घाट उतार दिया। बहुत से असुरों का भी संहार करडाला। परन्तु कर्तृत्वाभिमान और कर्मफल की कामना से शून्य होने के कारण मुझ प्रसिद्ध देवराज इन्द्र के एक रोम को भी हानि नहीं पहुँची। मेरा एक बाल भी बांका नहीं हुआ। यह बात मेरे ही लिये नहीं है, बल्कि मेरे अतिरिक्त आज भी जो कोई चिदात्मा को मैं रूप से जान ले कि ''वह साक्षी ब्रह्म मैं हूँ'' तो वह भी मेरी तरह निष्पाप एवं जीवनमुक्त हो जावेगें।

यह कथन अहंकार से अथवा शून्य ब्रह्मज्ञानी की महत्ता बतलाने के लिये है, न कि इस ज्ञान के द्वारा निन्दनीय दुष्कर्मों को करने का समर्थन है। वस्तुतः अहंकार रहित रागद्वेष शून्य पुरुष से पाप कर्म बनने का कोई हेतु ही नहीं होता है। ब्रह्मवेत्ता पुण्य और पाप से उसी प्रकार पृथक् होता हैं, जैसे रथ से यात्रा करने वाला पुरुष रथ को दौड़ता हुआ रथ के दोनों चक्कों को देखता है और रथ चक्रों का भूमि से जो संयोग वियोग होता है वह उस द्रष्टा को नहीं होता। इसी प्रकार वह रात-दिन, पुण्य और पाप तथा समस्त द्वन्द्वों को देखता है, किन्तु द्रष्टा होने के कारण ही उसका इन समस्त द्वन्द्वों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। जो उसके प्रिय, आज्ञाकारी सेवभावी भक्त होते हैं, वे तो उस तत्त्वज्ञानी महापुरुष के पुण्य को भोगते हैं और जो उनसे द्वेष करने वाले होते हैं वे दुष्टजन उस ब्रह्मवेत्ता के द्वारा प्रारब्ध बल से होने वाले पाप कर्मों का फल भोगते हैं।

उपदेश साहस्त्री में तत्त्ववेत्ता के लिये पारलौकिक भय का अभाव बताया है। उसे मृत्यु का भय भी नहीं है। उसके लिये ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तथा इन्द्रादि ऐश्वर्यशाली देवता भी शोचनीय है। तत्त्ववेत्ता के प्राण अज्ञानि की तरह शरीर से निकलकर किसी अन्य लोक विशेष में नहीं जाते हैं, बल्कि यहीं अपने कारण में लय को प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार देवराज इन्द्र ने काशीराज प्रतर्दन को आत्मज्ञान की महीमा

सुनाकर आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया ।

ब्रह्मविद्या का अधिकारी

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रा याशिष्याय वा पुनः ॥२२॥

यह परम रहस्यमय ज्ञान पूर्व कल्प में भी वेद के अन्तिम भाग - उपनिषद् में भली भाँति वर्णित हुआ था किन्तु जिसका अन्तः करण सर्वथा शान्त न होगया हो, ऐसे मनुष्य को इसका उपदेश नहीं देना चाहिये; तथा जो अपना पुत्र अथवा शिष्य न हो, उसे भी नहीं देना चाहिये । क्योंकि पुत्र को अधिकारी बनाना पिता का ही काम है । तथा शिष्य को पात्र बनाना गुरु का ही काम है । यह नियम नहीं है की वह पहले से ही अधिकारी हो ।

ब्रह्मविद्या कब रोती है ?

एकबार ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में ब्रह्मविद्या पश्चाताप करती, आँसु बहाती, गदगद् कंठ से कहने लगी कि हे ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणों ! मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी सम्पत्ति हूँ । याद रहे - मुझे निन्दकों, मिथ्याचारीयों और दुष्ट प्रकृतिवालों को मत सुनाना, मत देना । तभी में वीर्यवती- सामर्थ्यवान होऊँगी । धन के लोभ से आप मुझे वैश्या की तरह जिस किसी को भी प्रदान कर देते हैं । बिना पात्रता देखे मुझे अनाधिकारी को मत दीजिये । कुलीन स्त्री की तरह मुझे संभालकर रखने की कृपा करें एवं अधिकारी की परीक्षा कर ही उसे प्रदान किया करें । मैं त्यागी पुरुषों को ही वरण करना चाहती हूँ । कामना वाला पुरुष मुझे प्रिय नहीं है अतः जिसे गुरु श्रद्धावान, श्रुतशील शास्त्राभ्यासी, प्रमादरहित, मेधावी और ब्रह्मचर्य युक्त समझे, उसी के समीप आने पर उसकी सम्यक् प्रकार से परीक्षा करके इस आत्मविषयक वैष्णवी विद्या को प्रदान करे । - ॥४८-४९

मुक्तिकोपनिषद ॥

त्याग एवं विवेकहीन पुरुष ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर अनर्थ करते हैं । ब्रह्मविद्या के नाम पर इन्द्रियजन्य सुख में तल्लीन होकर अपने मन की कामवासना को लेकर भोले भक्तों का ठगते रहते हैं । दुष्ट चाण्डाल लोग कुलीन वधुओं की

इज्जत लूट व्यभिचार करते हैं । श्रद्धावान् लोगों का धन, तन, मन हरण करते रहते हैं । साधु का नकली वेश धारण कर श्रद्धालु भक्तों को लूटा करते हैं । परमानन्द प्रदान करनेवाली इस ब्रह्मविद्या रूप कन्या का दान सम्पन्न सद्पात्र में ही करें । अपात्र को देने से उसके लोक परलोक दोनों का एवं ब्रह्मविद्या तथा ब्रह्मवेत्ता गुरु का भी अश्रेय होता है । गुणहीन को प्रदान करने से मैं ब्रध्या स्त्री या फलहीन लता की तरह रह जाऊँगी ।

श्रीरामचन्द्र

हे हनुमान ! तुमने मुझसे श्रद्धा, भक्ति एवं जिज्ञासु भाव से अपने मुक्ति हेतु जो प्रश्न किया था उसके उत्तर में मैंने तुम्हें १०८ उपनिषदों का रहस्य समझाया है । उसे किसी विवेक, वैराग्य, षढ़सम्पत्ति तथा मोक्षाभिलाषी को श्रवण, मनन कराने से वह बिना प्रयास संसार बन्धन से मुक्त हो जावेगा । हे हनुमान ! जो तुमसे राज्य अथवा धन मांगे उसे उसकी कामना पुर्ति के लिये धन एवं राज्य दे सकते हो, परन्तु इस १०८ उपनिषदों के परमगोपनीय ज्ञान को हर किसी को श्रवण कराना ठीक नहीं है । जो नास्तिक है, ईश्वरभक्ति से मुखमोड़े हुए हैं, दुरारचारी, जीवहिंसक, मांसाहारी, जुआरी, तथा वेद निन्दक, दुष्कर्मी हैं तथा बहुत प्रकार के शास्त्रों का पठन-पाठन या अनेक महात्माओं को सुनकर जिनकी बुद्धि तर्क जाल में फंसी हुई हैं, उन श्रुतिविप्रतिपन्ना लोगों को तो कभी नहीं देना चाहिये । हे हनुमान ! सेवा परायण शिष्य, पुत्र या जो कोई जिज्ञासु साधन सम्पन्न हो उसे भली भाँति परीक्षा करके यह परम गोपनीय, परमपवित्र उपनिषद ज्ञान को अवश्व प्रदान करना चाहिये ।

गीताश्रुति

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे बाच्यं न च मा योऽभ्युसूयति ॥

गीता - १८/६७

हे अर्जुन ! तुझे यह गीता रूप रहस्यमय प्रत्यक्षफल देने वाला परम पवित्र, परमगोपनीय, परमश्रेष्ठ उपदेशामृत को किसी भी कालों में, किसी भी प्रलोभनसे, किसी भी भय से न तो तपरहित दुराचारी मनुष्य से कहना चाहिये और न भक्ति रहित से कहना चाहिये और न बिना सुनने की इच्छा वाले व्यक्ति के सम्मुख ही इसका

प्रकाश करना चाहिये । तथा जो ईश्वर एवं वेद निन्दक है उसे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये ।

लेकिन जो श्रद्धालु जिज्ञासु मनुष्य इस गीता ज्ञानामृत का किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु के श्रीमुख से श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करेगा वह भी निःसन्देह समस्त पापों से मुक्त होकर भव सागर से पार हो जावेगा । हे अर्जुन ! यदि कोई विश्व के समस्त पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है तो भी वह इस गीता ज्ञान रूप नौका द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप समुद्रसे भलीभाँति पार हो जावेगा । किन्तु इस ब्रह्मविद्या रूप आत्मधर्म में श्रद्धारहित पुरुष मृत्यु रूप संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं ।

FFF

ईशावास्योपनिषद्

शुक्ल यजुर्वेद संहिता का ४० वां अध्याय

इसे सबसे प्रथम का उपनिषद् मानते हैं । इसके पूर्व ३९ अध्याय तक कर्म काण्ड का प्रतिपादन हुआ है एवं अन्त में ज्ञान काण्ड का

: शान्ति पाठ :

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

- बृहदारण्यक उप. ५/१/१

वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है । यह जगत् भी उसपरब्रह्म से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है । इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत् पूर्ण होने पर भी परब्रह्म परिपूर्ण है । उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही बच रहता है अर्थात् यह सब एक ब्रह्म ही है ।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः ॥ - ३ ईशा

मानव शरीर समस्त योनियों में सर्वश्रेष्ठ मानागया है । साथ ही इसे सुर-दुर्लभ कहा गया है । यह ईश्वर की विशेष अनुकम्पा द्वारा जीव को जन्म-मरण से मुक्त होने के लिये एक जहाज रूप है । इस में सद्गुरु इसका खेवैया (केवट) तथा ईश्वर की कृपा ही अनुकूल वायु है । तथा जीवात्मा ही मुसाफिर है । अतः ऐसे अमुल्य मानव शरीर को पाकर भी जो जीव मोक्ष के लिये प्रयत्न नहीं करते हैं तथा केवल विषय भोग में ही रत रहते हैं वे वस्तुतः अपने आत्मा की हत्या करने वाले ही है । वे और भी कर्म बन्धन में जकड़ रहे हैं, जिनका फल असुर योनि में बार-बार जन्म-मरण रूपी दुःख भोगते हुए शुकर, कुकर, कीट पतंगादि योनि में विचरण करते हुए भयंकर नरको में भटकते रहेंगे । (गीता १६/१६,१९,२०) अतः अपना उद्धार मनुष्य को स्वयं करना चाहिये एवं स्वयं के द्वारा स्वयं को अधोगति में नहीं ले जाना चाहिये ।

- (गीता ६/५)

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तव्दन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५॥ - (ईशा)

यह सबका अपना आत्मा एक अचल, सर्वशक्तिमान होते हुए भी सभी शरीर उपाधियों द्वारा चलते भी है, और निर्गुण निराकार रूपसे यह सदा अचल स्थित है, यह इनका न चलना है । इस प्रकार वे मन्दबुद्धि वाले भक्तों के लिये सदा दूर से दूर बने रहते हैं । वे ज्ञान चक्षु के अभाव में इन हृदयस्थित आत्म देव को, इस तीर्थ से उस तीर्थ में इस मन्दिर से उस मन्दिर में इस मूर्ति से उस मूर्ति में 'मृग मरीचिका नीर' वत् सदा अपने से बाहर खोजा करते है । 'विमुढ़ा नानु पश्यन्ति' - गीता १५/१० ।

कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढुन्ढे बनमाहि ।
ऐसे घट घट प्रभु बसे, मुरख जाने नाहि ॥

किन्तु यह आत्मदेव उत्तम जिज्ञासु के लिये सद्गुरु कृपा द्वारा अत्यन्त समीप से समीप अर्थात् सोऽहम् रूप में विद्यमान रहते हैं । क्योंकि ऐसा कोई स्थान

ही नहीं जहाँ यह नहीं हो ।

अज्ञानि उन्हें चक्षु, मन, बुद्धि आदि के द्वारा बाहर दृश्यरूप जानना चाहता है जब कि ज्ञानी इन आत्मदेवको देह में ही मन, बुद्धि, चक्षु, वाणी के प्रकाशक रूप जानता है । सबके अन्तर्यामी होने के कारण वे सबके अत्यन्त समीप है । पर जो अज्ञानि लोग उन्हें अपने ही भीतर मन, बुद्धि के साक्षी रूप से नहीं जानते उनके लिये यह आत्मदेव उनकी बुद्धि में दूर से दूर ही बने रहते हैं । वस्तुतः यह इस जगत् रूप जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मुर्च्छा, ध्यान, समाधि आदि समस्त प्रपंच के आधार और परम कारण है । इसलिये यह अखण्ड रूप होने से भी देह, अन्तःकरण उपाधि से बाहर, भीतर और सर्वत्र परिपूर्ण है । मठाकाश में घटाकाश की तरह भीतर और बाहर भी यह आत्म देव ही है ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्या त्मन्ये वानु पश्यति ।
सर्व भूतेषु चात्मनं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥ - ईशा

इस प्रकार जो मनुष्य प्राणी मात्र को सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तम परमात्मा में देखता है और सर्वान्तर्यामी परम प्रभु को प्राणीमात्र में देखता है वह कैसे किससे घृणा या द्वैष कर सकता है ? वह तो सदा सर्वत्र अपने प्रभु के ही दर्शन करता हुआ (गीता ६/२९-३०) मन ही मन सबको प्रणाम करता रहता है । तथा सबकी सब प्रकार सेवा करना और उन्हें सुख पहुँचाना चाहता है ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥९॥ - ईशा

किन्तु जो मनुष्य भोगों में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के साधन अविद्या रूप यज्ञ, तप, दान, पूजा, पाठ, मन्त्र, उपवास, कीर्तन भजनादि विविध प्रकार से कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे उन कर्मों के फल रूप अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण विविध योनियों और भोगों को ही प्राप्त होते हैं । वे मनुष्य जन्म के चरम व परम लक्ष्य हृदय स्थित साक्षी परमेश्वर को न पाकर निरन्तर जन्म-मृत्यु रूप संसार के प्रवाह में पड़े हुए विविध तापों से संतप्त रहते हैं ।

दुसरे जो मनुष्य न तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये, कर्तापन के अभिमान से रहित निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करते हैं और न विवेक, वैराग्यादि ज्ञान के

प्राथमिक साधनों का ही सेवन करते हैं परन्तु केवल शास्त्रों को बिना सद्गुरु के श्रीमुख से सुने, स्वयं पढ़कर अथवा किसी पंडित, शास्त्री से सुनकर अपने में विद्याका - ज्ञान का मिथ्या आरोप करके अभिमानी बन बैठते हैं। ऐसे मिथ्याज्ञानी, देहाभिमानी तथा कर्तृत्वाभिमानी मनुष्य अपने को ज्ञानी मानकर, 'हमारे लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है' इस प्रकार कहते हुए कर्त्तव्य कर्मों का त्याग कर देते हैं और इन्द्रियों के वश में होकर शास्त्र विधि से विपरित मनमाना आचरण करने लगते हैं । इससे वे लोग सकाम भाव से करने वालों की अपेक्षा भी अधिकतर अन्धकार को- पशु, पक्षी, शुकर, कुकर आदि नीच योनियों को और रौरव कुम्भीपाकादि घोर नरकों को प्राप्त होते हैं ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँरताः ॥१२॥ - ईशा

जो मनुष्य विनाशशील स्त्री,पुत्र, धन मानादि इस लोक तथा परलोकको भोग सामग्रियों में आसक्त होकर उन्हीं को सुख का हेतु समझते हैं तथा उन्हीं को अर्जन, सेवन में सदा संलग्न रहते हैं और इन भोग सामग्रियों की प्राप्ति, संरक्षण तथा वृद्धि के योगक्षेम हेतु ही उन विभिन्न देवता, पितर, और मनुष्यादि की उपासना करते हैं जो देबादी स्वयं जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए होने के कारण शरीर की दृष्टि से विनाशील हैं । ऐसे भोगासक्त मनुष्य अपनी उपासना के फल स्वरूप विभिन्न देवताओं के लोकों को और विभिन्न भोगयोनियों को प्राप्त होते हैं । यही उनका अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करना है । भोगयोनी देवता, पितरादि नाशवन्त है, क्योंकि पुण्य क्षीण होने पर अपने कल्पित लोकों से गिरते हैं । इसी दृष्टिकोण से उनकी उपासना करना मृत्यु को ही प्राप्त होना है । इस प्रकार के अज्ञानि लोग अपने मन्दबुद्धि के फल स्वरूप आत्महत्यारे की गति को ही प्राप्त होते हैं ।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६॥ - ईशा

हे ज्ञानियों के परम लक्ष्यरूप, हे मुख्य ज्ञान स्वरूप आपके दिव्य स्वरूप को मैं आपकी कृपा से ज्ञान नेत्र द्वारा अर्थात् बुद्धि के द्वारा समझ रहा हूँ कि आप परम पुरुष इस सूर्य के और समस्त विश्व के परमआत्मा हैं । अतः जो सूर्य मण्डल

और समस्त विश्व में स्थित पुरुष है '**वही मैं हूँ**' '**आप में और मुझ में किसी प्रकार का भेद नहीं है** ।' जैसे महाकाश से मठाकाश एवं मठाकाश से घटाकाश में सत्ता दृष्टि से किसी प्रकार का भेद नहीं है । उसी प्रकार आप व मुझ में तत्त्व दृष्टि से कोई भेद नहीं है । देह दृष्टि से मैं आपका भक्त, जीव दृष्टि से मैं आपका अंश एवं तत्त्व दृष्टि से जो आप हैं वही मैं हूँ ।'

FFF

केनोपनिषद्

(सामवेद के तलवकार ब्राह्मण)

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चुरतिमुत्य घीराः प्रेत्यास्माह्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

जो श्रोत्र का भी श्रोत है । जो इन मन, प्राण इन्द्रियों और समस्त जगत् का परम कारण है, जिससे ये सब उत्पन्न हुए हैं, जिसकी शक्ति को पाकर ये सब अपना-अपना कार्य करने में समर्थ हो रहे हैं और जो इन सबको जानने वाला है, वह परब्रह्म परमेश्वर ही इन सबका प्रेरक है । उसे सद्गुरु द्वारा सोऽहम् स्वरूप जानकर ज्ञानी जन जीवन मुक्त होकर इस लोक से प्रयाण करने के अनन्तर अमृत स्वरूप-विदेह मुक्त हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मृत्यु से सदा के लिये छूट जाते हैं ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्या चचक्षिरे ॥३॥

उस सच्चिदानंदघन परब्रह्म को प्राकृत अन्तःकरण और इन्द्रियाँ नहीं जान सकती है । ये वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाती । उस अलौकिक दिव्य तत्त्व में उनका प्रवेश ही नहीं हो सकता । बल्कि इनमें जो चेतना और क्रिया प्रतीत होती है, यह उसी ब्रह्म की प्रेरणा से और उसीकी शक्ति से होती है । ऐसी अवस्था में मन इन्द्रियों के द्वारा कोई कैसे बतलाये कि "**वह ब्रह्म ऐसा है**" इस प्रकार ब्रह्म तत्त्वके उपदेश की कोई युक्ति न तो हमने सुनकर समझा है और न हम स्वयं अपनी बुद्धि से ही

विचार के द्वारा समझ रहे हैं । हमने तो जिन महापुरुषों से इस गूढ़ तत्त्व का उपदेश प्राप्त किया है, उनसे यही सुना है कि वह परब्रह्म परमेश्वर जड़-चेतन, दोनों से भिन्न है । - जानने में आने वाले सम्पूर्ण दृश्य जड़-वर्ग (क्षर) से तो वह सर्वथा भिन्न है और उस जड़ वर्ग को जानने वाले परन्तु स्वयं जानने में न आने वाले जीवात्मा (अक्षर) से भी उत्तम पुरुषोत्तम है । ऐसी स्थिति में उसके स्वरूप को वाणी के द्वारा व्यक्त करना कदापि संभव नहीं है । (गीता अध्याय १५/१६-१८)।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युध्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।४।।

वाणी के द्वारा जो कुछ भी व्यक्त किया जा सकताहै तथा प्राकृत वाणी से बतलाते हुए जिस तत्त्व की साधकों द्वारा उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । ब्रह्म तत्त्व वाणी से सर्वथा अतीत है । उसके विषय में वाणी से इतना ही कहा जा सकता है कि 'जिसकी शक्ति के किसी अंश से वाणी में बोलने की शक्ति आती है, जो वाणी का भी ज्ञाता, प्रेरक और प्रवर्तक है वह ब्रह्म है । वाणी मन की प्रेरणा से बोलती है । वह ब्रह्म तुम हो । तुम उसकी अन्यरूप से उपासना मत करना ।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।५।।

मन का जो भी विषय है, जो इसके द्वारा जानने में आ सकता है तथा प्राकृत मन-बुद्धि से जाने हुए जिस तत्त्व की साधकों द्वारा उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । वह सब संसार ही है । परब्रह्म परमेश्वर मन और बुद्धि से सर्वथा अतीत है । उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि, जो मन, बुद्धि का ज्ञाता, उनमें मनन और निश्चय कराने की शक्ति देने वाला है । मन बुद्धि जिसे जानते हैं, वह संसार है किन्तु मन, बुद्धि को जो प्रकाशक, ज्ञाता, द्रष्टा है वह ब्रह्म है - 'वह तु है' । तुम उसकी भिन्न रूप से उपासना मत करना ।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।६।।

चक्षुका जो कुछ भी विषय है, जो कुछ भी इसके द्वारा देखने जानने में आ सकता है, तथा प्राकत आँखों से देखे जाने वाले जिस रूप पदार्थ की सकाम कर्मियों एवं भक्तों द्वारा उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर चक्षु आदि इन्द्रियों से सर्वथा अतीत है। उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिसकी शक्ति और प्रेरणा से चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती है, जो इन को जानने वाला तथा जिसकी शक्ति के किसी अंश का यह प्रभाव है, वह ब्रह्म है और वह ब्रह्म तुम हो। तुम उसकी भिन्नरूप से उपासना कभी मत करना।

यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोत्रमिदँ श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७॥

जो कुछ भी सुनने में आने वाला पदार्थ है तथा प्राकृत कानों से सुने जानेवाले जिस नाम-रूप वस्तु-समुदाय की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर श्रोत्रेन्द्रिय से सर्वथा अतीत है। उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो श्रोत्र इन्द्रिय का ज्ञाता, प्रेरक और उसमें सुनने की शक्ति देनेवाला तथा जिसकी शक्ति के किसी अंश से श्रोत्र-इन्द्रिय में शब्द को ग्रहण करने की सामर्थ्य आयी है, वह ब्रह्म है। इस श्रोत्र तथा समस्त इन्द्रियाँ को प्राण से शक्ति मिलती है। वह ब्रह्म तुम हो। तुम उसकी भिन्नरूप से उपासना मत करना।

यत्प्राणेन न प्राणीति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

प्राण के द्वारा जो कुछ भी चेष्टायुक्त की जानेवाली वस्तु है तथा प्राकृत प्राणों से अनुप्राणीत जिस तत्त्व की उपासना की जाती है वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर उनसे सर्वथा अतीत है। उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो प्राण का ज्ञाता, प्रेरक और उसमे शक्ति देकर चलाने वाला है, जिस की शक्ति के अंश प्राप्त करके और जिसकी प्रेरणा से यह प्रधान प्राण सबको चेष्टायुक्त करने में समर्थ होता है। वही सर्वशक्तिमान परमेश्वर ब्रह्म है। 'वह तुम हो' तुम उसकी भेद रूप से उपासना मत करना।

सारांश यह है कि प्राकृत मन, प्राण, तथा इन्द्रियों से जिन विषयों की उपलब्धी होती है, वे सब प्राकृत होते हैं; अतएव उनको परब्रह्म, परमेश्वर, परात्पर पुरुषोत्तम का वास्तविक स्वरूप नहीं माना जा सकता । इसलिये उन सब इन्द्रियों द्वारा साध्य उपासना भी परब्रह्म परमेश्वर की उपासना नहीं है । शास्त्रों में उसे केवल सबके ज्ञाता, शक्ति प्रदाता, स्वामी, प्रेरक प्रवर्त्तक, सर्वशक्तिमान, नित्य, अप्राकृत परमतत्त्व रूप से ब्रह्म बतलाया है । वह ब्रह्म तुम हो 'तत्त्वमसि' । तुम उसकी भेद रूप से उपासना कभी मत करना । तथा तत्त्व को जानने की इच्छा न करने वालों को भी यह गूढ़ ज्ञान मत बताना । अन्यथा उन की बुद्धि उनके साधन से विचलित हो जावेगी और वे दोनों मार्गों से हट पथभ्रष्ट हो जावेंगे ।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।। ३

- केनोप. २-३

जो यह मानता है कि मैंने ब्रह्मको जान लिया है, मैं ज्ञानी हूँ, परमेश्वर मेरे ज्ञेय हैं, वह वस्तुतः सर्वथा भ्रम में है; क्योंकि परमत्मा से भिन्न कोई ज्ञानी है ही नहीं जो उसे जान सके । अगर परमात्मा किसी का ज्ञेय हो गया तो वह उस ज्ञानी से निश्चित् छोटा हुआ, क्योंकि यह वेद का सिद्धान्त है कि ज्ञेय वस्तु सदा ज्ञाता से भिन्न, जड़, तथा नाशवान होती है, और ब्रह्म इस प्रकार ज्ञान का विषय नहीं है । अतएव इस प्रकार जानने का अहंकार रखने वालों से वह सदा अनजाना ही है । ब्रह्म को उन्होंने जाना है जिन्होंने ज्ञाता पन का अभिमान नहीं किया है । उनका वह (ब्रह्म) जाना हुआ है, उन्हें अपरोक्ष हो चुका है ।

जो महापुरुष सद्गुरु कृपा से परमात्मा को आत्मा रूप से जान लेते हैं उन्हें किंचित् मात्र भी ऐसा अभिमान नहीं होता कि हमने परमेश्वर को जान लिया है । परमात्मा स्वयं ही अपने आपको जानते हैं । परमात्मा सर्वथा मन वाणी से अगोचर है । दूसरा कोई भी ऐसा समर्थ नहीं जो उन्हें अपने से पृथक् दृश्य रूप देख सके । अर्जुन ने भी देखने की जिज्ञासा की थी (गीता ११/४) किन्तु श्रीकृष्ण ने उसे स्पष्ट कह दिया कि तू उस परमात्मा को इन प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में निःसन्देह समर्थ नहीं है इसी से मैं तुझे दिव्य अलौकिक चक्षु देता हूँ ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुःपश्य मे योगमैश्वरम् ।।

- गीता ११/८

इह चेदवेदीदय सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि : ।
भूतेषु भूतेतु विचित्य धीरा : प्रवत्यास्मा ल्लेकादमृता भवन्ति ।।

- २/५

मानव जीवन अत्यन्त दुर्लभ है । इसे पाकर जो मनुष्य अपने उद्धार अर्थात् जन्म-मृत्यु दुःख से मुक्त होने के लिये प्रयत्न नहीं करता, वह अपनी बहुत बड़ी हानि कर रहा है । अतएव श्रुति कहती है कि जबतक यह दुर्लभ मानव शरीर विद्यमान है और सद्गुरु की उपदेश रूप कृपा प्राप्त हो रही है, तभी तक शीघ्र से शीघ्र निजात्म स्वरूप को जानलिया जायतो इस जीव के लिये सब प्रकार से मंगल है - मानव जीवन की परम सार्थकता है । यदि यह देव दुर्लभ मुक्ति द्वार रूप मानव जीवन केवल विषय भोग संग्रह में ही व्यतीत कर दिया तो यह महान् दुःख का भागी होगा । अर्थात् फिर इसे चौरासीलाख योनियों में बार-बार मृत्यु के पाश में बन्धकर अतिशय दुःख सहना होगा ? फिर कष्ट भोगने एवं रो-रो कर पश्चाताप करने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रह जायेगा । संसार के दैविक, देहिक तथा भौतिक त्रितापों से बचने का यह मानव जीवन ही एक मात्र साधन है इस जीवन के अतिरिक्त सभी योनियाँ केवल अपने शुभाशुभ कर्मों के भोगने के लिये ही होती है । पशु, पक्षी, कीट, पतंग, देव, यक्ष, किन्नर प्रेत गन्धर्व आदि योनियों में अपने दुःखों से छुटने का साधन नहीं हो पाता ।

मनुष्य की बुद्धिमता इसी बात में है कि प्रत्येक स्वाँस को अन्तिम जान वह इस जीवन का अपने उद्धारार्थ शिघ्रातिशीघ्र उपयोग कर लें । प्रत्येक प्राणी में निजात्मा को देखते हुए सदा के लिये जन्म-मृत्यु के चक्र से छूटकर अमृत्व को प्राप्त करलें ।

FFF

कठोपनिषद

प्रथमअध्याय

द्वितीय वल्ली

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति घीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रियो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

- कठोप. १/२/२

श्रेय और प्रेय ये दो प्रकार के मार्ग मनुष्य के सम्मुख उपस्थित रहते हैं । इनमें अधिकांश मनुष्य तो श्रेयमार्ग में विश्वास ही नहीं करते एवं प्रेय विषय भोग में आसक्त होकर देव-दुर्लभ मनुष्य जीवन को पशुवत् भोगों के भोगने में ही समाप्त कर देते हैं । उन्हें श्रेय मार्ग अर्थात् परम कल्याण का विषय आत्मज्ञान रुचिकर नहीं लगता । किन्तु जिनको अपने कल्याण की तीव्र उत्कंठा होती है वे प्रेय अर्थात् सांसारिक भोग पदार्थों से सुखबुद्धि का त्याग करके श्रेय अर्थात् आत्मकल्याण में ही अपना तन, मन, प्राण समर्पित कर देते हैं । परन्तु मन्द बुद्धि वाले लोग श्रेय का महत्व न समझकर प्रत्यक्ष प्रेय विषयों से प्राप्त होने वाले इन्द्रिय सुख भोग की प्राप्ति तथा प्राप्त धन, पुत्र, सम्पत्ति, परिवार, व्यवसाय, नोकरी, पति-पत्नी आदि की सुरक्षा के लिये नाना देवी-देवताओं की प्रार्थना पूजा, भक्ति, पशुबली, तपस्या, व्रत उपवास तीर्थाटन, यज्ञादि अनित्य कर्मों को ही करते रहते हैं ।

इस प्रकार अविद्या और विद्या नाम से दो प्रसिद्ध मार्ग है । ये दो प्रकार के साधन मार्ग साधकों को अपने संस्कारों के अनुसार रुचिकर प्रतीत होते हैं । दोनों मार्गों का फल अन्धकार-प्रकाश की तरह भिन्न-भिन्न है । जिनकी भोगों में आसक्ति है वे मन्दबुद्धिवाले अपने लोग कल्याण के मार्ग में नहीं बढ़ सकते और जो कल्याण मार्ग का पथिक है, वह सांसारिक पदार्थों से अपने साधारण जीवन निर्वाह करने जितना ही प्रयोजन रखता है । वह ज्ञानी, अज्ञानि की तरह विषय भोगों को सुख बुद्धि से संग्रहकर उनमें आसक्त नहीं होता बल्कि भोगों को रोग एवं दुःख का हेतु जान केवल जीवन निर्वाह के अतिरिक्त बचे अन्न, धनादि का जन कल्याणार्थ परित्याग कर देता है ।

जेहि विषया सन्तन तजी, मूढ़ ताहि लिपटाय ।
जो नर डारत बमन कर, श्वान स्बाद से खाय ।।

श्रवाणयापि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रण्वन्तोऽपि बहवो यं न विधुः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्पर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।

कठोप. १/२/७

आश्चर्य वत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवदति चान्य ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रुणोति श्रुत्वाप्यानं वेद न चैवकश्चित् ।।

गीता २/२९

हे आत्मन् ! यह सबका अपना आत्मा कोई साधारण-सी वस्तु नहीं है । जगत् में अधिकांश मनुष्य तो ऐसे अधार्मिक संस्कार वाले होते हैं जिनको आत्म कल्याण की चर्च्चा सुनने को भी नहीं मिलती । वे ऐसे दुषित विषय भोगासक्त अज्ञानियों के बीच रहते हैं कि जहाँ प्रातः से रात्रितक धन प्राप्त करने एवं विषयभोग ग्रहण करने के सम्बन्ध में ही विचार चिन्तन एवं प्रयत्न होता रहता है । उनके मन में आत्मतत्त्व सुनने-समझने की कभी इच्छा ही नहीं होती ।

हे आत्मन् ! कोई एक भाग्यशाली गुरुकृपा प्राप्त सत्वगुणी ज्ञानी महापुरुष ही इस अपने हृदय में स्थित आत्म ब्रह्म को आश्चर्य की तरह देखता है । वैसे ही उनमें भी कोई विरल दूसरा महापरुष इस आत्मतत्त्व को आश्चर्य की भान्ति वर्णन करता है । तथा दूसरा कोई ही विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता साधन सम्पन्न उत्तम जिज्ञासु इसे आश्चर्य की तरह सुनता है । एवं ऐसे महापुरुष भी कोई विरले ही होते हैं जिन्होंने आत्मतत्त्व को श्रवण करके जीवन की सफलता प्राप्त की है ।

हे आत्मन् ! भली भांति सरलता से अनेक युक्तियों एवं प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा समझकर वर्णन करने वाले सफल अनुभवी आत्मदर्शी आचार्यों के द्वारा उपदेश प्राप्त करके उसके अनुसार मनन-निदिध्यासन करते करते तत्त्व का साक्षात्कार करनेवाले महापरुष भी जगत् में कोई विरले ही होते है । अतः इसमें सर्वत्र ही दुर्लभता है ।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।

- गीता ७/३

हे आत्मन् ! हजारों मनुष्यों में कोई एक परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रथम द्वैत उपासना, भेद भक्ति करता है और उन यत्न करने वाले सिद्ध पुरुषों में भी कोई एक द्वैत उपासना का त्याग करके सोऽहम् भाव रूप अभेद ज्ञान को यथार्थ रूप से जानता है ।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ।।

- कठोप. १/२/८

हे आत्मन् ! जहाँतक इन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि की पहुँच है वहाँ तक प्रकृति को ही जानना चाहिये । प्रकृति पर्यन्त जो भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है वह सब माया मात्र है ।

गो गोचर जहँ लगिमन जाई । सो सब माया जाने हुँ भाई ।।

-रामायण

यह आत्म तत्त्व तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है । यह इतना गहन है कि जबतक इसे यथार्थ रूप से समझाने वाले कोई श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष नहीं मिलते, तबतक साधक का इसमें प्रवेश पाना अत्यन्त ही कठिन है । संस्कृत पंडित, कथावाचक, शास्त्री, आदि साधारण ज्ञानवाले मनुष्यों से आत्मतत्त्व को श्रवण करके उनके बतलाये अनुसार यदि कोई विविध प्रकार से चिन्तन मननादि अभ्यास करता है, तो भी उसका आत्मज्ञान रूपी फल नहीं होता । आत्मतत्त्व तनिक भी-समझ में नहीं आता । न यह ऐसा ही है कि दूसरे किसी महापुरुष से सुने बिना केवल अपने आप तर्क वितर्क युक्त विचार करने से समझ में आजाय ।

हे आत्मन् ! आत्मतत्त्व उन्हीं महापुरुषों से सुनना चाहिये जो गुरु परम्परा से इस अद्वैत वेदान्त ज्ञान को प्राप्त हुए है, तभी यह आत्म बोध श्रोता के हृदय में जाग्रत हो पाता है ।

एष सर्वेषु भूतेषु गुढ़ोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्यया बुद्धया सुक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः

- १-३-१२ कठो.उप

यह सबका आत्म स्वरूप परमपुरुष समस्त प्राणीयों में रहता हुआ भी माया के परदे के पीछे छिपा रहने के कारण सबके प्रत्यक्ष नहीं होता । केवल सूक्ष्म तत्त्वों को समझने वाले पुरुषों द्वारा अति सूक्ष्म दर्शी ही भगवान् की दयासे सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा उन्हें देख पाते हैं (गीता ४/६ तथा १५/११, ६/२९, ७/२५, १/११)

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः
सोऽध्वनः पारमान्पोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

- १-३-९ कोठ.उप

जो कोई मनुष्य विवेकशील बुद्धिरूप सारथिसे सम्पन्न और मनरूप लगाम् को वश में रखने वाला है वह संसार मार्ग के पार पहुँचकर, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के उस सुप्रसिद्ध परमपद को प्राप्त हो जाता है । जहाँ जाकर उसे पुनः देहभाव को प्राप्त नहीं होना पड़ता । अतः -

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तकवयो वदन्ति ॥

१-३-१४

तुम जन्म जन्मान्तर से अज्ञान निद्रा अर्थात् देहभाव में ग्रसित् हो सो रहे हो । अब परमात्मा की दया से यह देव-दुर्लभ मुक्ति के द्वार रूप मानव शरीर प्राप्त हुआ है । इसे पाकर एक क्षण भी आलस्य में मत खोओ । अतः हे मनुष्यों ! उठो जागो सावधान हो जाओ और श्रेष्ठ महापुरुषों के पास जाकर उनके द्वारा उस परब्रह्म परमेश्वर को जानलो । परमात्मा तत्त्व बड़ा गहन है उसके स्वरूप का ज्ञान, उसकी प्राप्ति का मार्ग सद्गुरु की कृपा के बिना प्राप्त होना असम्भव है । क्योंकि त्रिकालज्ञ ज्ञानी जन उस तत्त्वज्ञान के मार्ग को छूरे की तीक्ष्ण धार के सदृश भब बन्धन काटने वाला बतलाते है :

ज्ञान का पंथ कृपाण की धारा ।
पड़त खगेश होई नहीं बारा ॥

- रामायण

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।

- गीता १२/५

उन देहाभिमानियों एवं विषयासक्त मन्दबुद्धि वाले लोगों के लिये निराकार आत्म स्वरूप की प्राप्ति करना बहुत ही कष्ट प्रद होता है । ऐसे मन्द बुद्धि वाले अज्ञानियों को सगुण साकार नाम रूप की उपासना अति सहज मालुम पड़ती है । क्योंकि सगुण रूप में नाना लीला कथा में उन अज्ञानियों का मनोरंजन के साथ साथ होता रहता है । लेकिन् भेद उपासकों की बैकुण्ठ लोकादि तक पहुँचकर भी दीर्घकाल के बाद पुनर्जन्म को अवश्य प्राप्त करना पड़ता है ।

आ ब्रह्म भुवनालोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

- गीता ८/१६

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त अन्य सभी लोक जीवों को उनके पुण्य समाप्ति पर पुनः इस मर्त्यलोक में लौटा देते हैं । परन्तु सद्गुरु की कृपा से जिन्होंने परमात्मा को निजात्मा रूप पहचान लिया है अर्थात् वह ब्रह्म मैं ही हूँ 'सोऽहम्' ऐसे आत्मनिष्ठावान् ज्ञानियों को पुनः देहभाव को प्राप्त नहीं होना पड़ता है । क्योंकि उन्हें अमृत्व की प्राप्ति हो जाती है । आत्मा कालातीत है और ये सब ब्रह्मादिक लोक काल के द्वारा ग्रसित होने वाले होने से अनित्य है । भक्तों को मिलने वाली सालोक्य, सामिप्य, सायुज्य तथा सारूप्य मुक्ति से पुर्नजन्म होता है किन्तु ज्ञानियों द्वारा प्राप्त कैवल्य मुक्ति नित्य होती है ।

निर्गुण रूप सुलभ अति सगुण न जाने कोई ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होई ॥

- रामायण

सगुण साकार उपासना से निराकार आत्मोपसना अति सरल है । क्योंकि सगुण रूप की लीला चरित्र मुनियों को भी भ्रमित कर देती है ।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

-- १-३-१५

किन्तु वह शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित, और बिना गंध वाला है तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, महान् से श्रेष्ठ एवं सर्वथा सत्य तत्त्व है । ऐसा बतलाकर यह समझायागया है कि यह परमात्मा अप्रमेय है । अर्थात् जगत् के विषयों को ग्रहण करने वाली श्रोत्रादि इन्द्रियों का वहाँ प्रवेश नहीं है । उस परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु के भय से सदा के लिये छूट जाते हैं ।

आत्मानँ रथिनं विद्धि शरीरं श्थमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

- १-३-३

हे नचिकेता ! तुम जीवात्मा को तो रथ का स्वामी-उसमें बैठकर चलने वाला समझो, और इस शरीर को ही रथ समझो, तथा बुद्धि को इस रथ का सारथी समझो (रथका चलाने वाला समझो) और मन को ही लगाम समझो ।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विर्षयाँ स्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

- १-३-४

ज्ञानी जन इस प्रकार इन्द्रियों को रथ के घोड़े बतलाया है, और विषयों को उन घोड़ों के विचरने का मार्ग बतलया है । तथा शरीर, इन्द्रिय और मन इन सबके साथ रहने वाला अविद्या युक्त जीवात्मा को ही कर्ता बतलाते हैं ।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्चा इव सारथे ।

- १-३-५

अनादि काल से जीवात्मा परमात्मा से विमुख हो अनित्य जगत् में सुख हेतु भटक दुःख पारहा है । इसकी दयनीय दशा को देखकर करुणामय परमात्मा ने सर्वश्रेष्ठ मानव जीवन रूपी सर्वसाधन सम्पन्न सुन्दर रथ दिया । इन्द्रियाँ रूप घोड़े दिये । उनको सयत करने के लिये मन रूपी लगाम लगाकर बुद्धिरूपी सारथी के हाथ में सौंप दी और जीवात्मा को उस रथ में बैठाकर उनका स्वामी बनाकर यह सौभाग्य प्रदान किया कि वह शीघ्र परमधाम को पहुँचकर अखण्डानन्द में लीन हो

सके ।

जीवात्मा यदि बुद्धि सारथी को सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता तो वह शीघ्र परमधाम पहुँचजाता । परन्तु वह सांसारिक नाम-रूप तथा यह मैं-मेरा के माया जाल में फंस कर बुद्धिको सद प्रेरणा देना भूलगया । जिससे बुद्धि रूपी सारथी असावधान होकर मनरूपी लगाम को ढीला छोड़ दिया । जिसके फल स्वरूप दुष्ट बलवान इन्द्रियाँ रूप घोड़े सांसारिक शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध विषयों में भटक विषय-विषका पान कर अत्यन्त दुःख को प्राप्त हो रहा है ।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो, न जायते ॥

-१-३-८

परन्तु जो सदा विवेकशील बुद्धि से युक्त संयतचित्त और पवित्र रहता है वह तो उस परमपद को प्राप्त हो जाता है जहाँ से लौटकर पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता । अर्थात् जो मनुष्य विवेकशील बुद्धिरूप सारथी से सम्पन्न और मनरूप लगाम को वश में रखने वाला है, वह सांसारिक मार्ग के पार पहुँचकर परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्राप्त करलेता है जहाँ से फिर लौटना नहीं होता ।

FFF

द्वितीय अध्याय

प्रथम वल्ली

जो मुर्ख बाह्य भोगों का ही अनुसरण करते हैं उन्हीं में रचे-पचे रहते हैं वे सर्वत्र फैले हुए मृत्यु के बन्धन में पड़ते हैं । किन्तु बुद्धिमान मनुष्य नित्य, अमरपद को विवेक द्वारा जानकर इस जगत् के अनित्य भोगें में से किसी को भी नहीं चाहते अर्थात् उनमें आसक्त नहीं होते । - २-१-२

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाँश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यतो एतद्वै तत् ॥

- २-१-३

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और स्त्री-पुरुष संभोग से होने वाले सभी सुखों का जिस शक्ति के द्वारा अनुभव करता है और उसी बुद्धिशक्ति के द्वारा इन सभी सुखभोग पदार्थों को क्षण भंगुर जानलेता है । किन्तु आत्मशक्ति का कभी नाश नहीं होता यह ही है वह परमात्मा जिसके बारे में तुम मुझसे पूछ रहे थे ।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।। - २-१-४

जाग्रत व स्वप्न के दृश्यों को जिस शक्ति द्वारा यह देखता रहता है, उस सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापि आत्मा को सद्‌गुरु उपदेश 'तत्त्वमसि' द्वारा 'सोऽहम्' रूप से जानकर बुद्धिमान मनुष्य किसी भी कारण से किसी भी वस्तु के लिये शोक नहीं करता ।

य इमं मध्वदं वेदआत्मानं जीव मन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वैतत् ।।

- २/१/५

जो साधक परमात्मा को कर्मफलदाता, सबको जीवन प्रदान करने वाला, भूत, वर्तमान एवं भविष्य का एकमात्र शासन करने वाले तथा सभी प्राणीयों के हृदय मन्दिर में विद्यमान जान लेता है, वह फिर किसी प्राणी के साथ किसी प्रकार घृणा, निन्दा, कटुवचन, चोरी, व्यभिचार, घोखा, हत्या आदि दुष्कर्म कभी भी नहीं करता । हे नचिकता ! यह वही आत्मा है जिसके बारे में तुमने पूछा था ।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।। ।।१०।।

जो परमात्मा यहाँ है वही परलोक में भी है । जो वहाँ है वही यहाँ पर भी है । वह मनुष्य मृत्यु से मृत्यो को प्राप्त होता है, अर्थात् बारम्बाार जन्म-मरण गति को प्राप्त होता है, जो इस जगत् में उस परमात्मा को अनेक की तरह देखता है अर्थात् भेद बुद्धि एवं छोटे बड़े नाना भाव वाला देखता है ।

मनसै वेद माप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।

- २-१-११

शुद्ध मनसे ही यह परमतत्त्व प्राप्त किये जाने योग्य है इस जगत् में एक परमात्मा से अतिरिक्त भिन्न-भिन्न भाव कुछ भी नहीं है सब कुछ उन्हीं का स्वरूप है । इस लिये जो इस जगत् में नानात्व देखते है वह मनुष्य मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होते हैं । अर्थात् बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता रहता है ।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥

- २-२-३

जो प्राण को ऊपर की और उठाता है और अपान को नीचे की और ढकेलता है । शरीर के मध्य (हृदय) में बैठे हुए उस सर्वश्रेष्ठ भजने योग्य परमात्मा की सभी देवता उपासना करते हैं ।

अस्य विस्त्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्वि मुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्व तत् ॥

- २-२-४

इस शरीर में स्थित एक शरीर से दूसरे शरीर में जानेवाला जीवात्मा के शरीर से निकलजाने के साथ ही जब इन्द्रिय, सूक्ष्म प्राण, आदि भी चलेजाते हं एवं तब इस मृत शरीर में क्या बच रह जाता है ? यह जो नचिकेता तुम्हारा प्रश्न था उसके सम्बन्ध में यही उत्तर है कि जो सर्वव्यापी सर्वन्तर्यामी परमेश्वर ही उस मृत शरीर में शेष रह जाता है, क्योंकि उसका कभी भी कहीं भी त्रिकाल में अभाव नहीं होता है । जो चेतन जीव तथा जड़ प्रकृति में सदा समान भाव से व्याप्त है । यही वह ब्रह्म है जिसके विषय में तुम मुझसे पूछ रहे थे ।

- गीता २/१६-१७

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥
हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ - २-२-५,६

कोई मरण धर्मा प्राणी न तो प्राण से जीता है और न अपान से ही जीता

है, किन्तु जिसमें प्राण और अपान ये दोनों आश्रय पाये हुए हैं, उस जीवात्मा से ही सब जीते हैं । वह रहस्यमय ब्रह्म जैसा है और जीवात्मा देह त्यागकर जिस प्रकार से रहता है यह बात तुम्हें मैं अब फिर से बतलाऊँगा ।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम् ॥

- २-२-७

हे आत्मन् ! जब जीव अन्तःकरण की वृत्तियों के साथ अंह भाव कर लेता है और कर्त्ताभाव द्वारा वह कर्म करता है तब उन्हीं कर्मों के अनुसार फल भोगने हेतु ऊँच-नीच योंनियों को प्राप्त होता है ।

हे आत्मन् ! अन्तिम समय में जीव का जैसा मनोभाव होता है उसी के अनुसार उसका भावी शरीर निर्मित होता है । वहाँ जाकर उसे वही सुख-दुःख का भोग प्राप्त होता है जो कर्म उसने पूर्व देह में किये थे ।

हे आत्मन् ! यदि किसी जीव के कर्म तो अच्छे है पर अन्तिम समय में जन्मान्तरों के संस्कार वश स्त्री, पुरुष, कुत्ता, हरिन, गाय, सांप, तोता आदिका स्मरण जाग्रत हो गया तो उसे उसके अन्तिम चिन्तन अनुसार स्त्री, पुरुष, कुत्ता, हरिन, गाय, सांप, तोता, आदि शरीर की ही प्राप्ति होगी । परन्तु उन योनियें में भी उसे उसके शुभ कर्मों का फल सुख भोग ही प्राप्त होगा ।

हे आत्मन् ! किसी जीव के कर्म अशुभ होने कर भी अन्तिम समय में यदि उसे भक्ति का चिन्तन हो गया तो उसे दरिद्र घर में मनुष्य जन्म तो मिलेगा किन्तु वहाँ उसे अन्न, वस्त्र, शिक्षा, मकान का अभाव रहेगा एवं स्वयं रोगी, दुष्ट सन्तान, दुष्टा स्त्री, पुरुष का संयोग प्राप्त होगा ।

हे आत्मन् ! जीव के अधोगति में जाने के दो मार्ग है । प्रथम योनि विशेष तथा द्वितीय स्थान विशेष ।

पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सांप, बिच्छु, भूत, प्रेत, चुड़ेल आदि 'योनि विशेष' अधोगती का रूप है ।

वैतरणी, असिपत्र, लालाभक्ष, कुम्भीपाक, रौरव, महारौरव आदि नरक

के कुण्ड 'स्थान विशेष' अधोगती का रूप है ।

हे आत्मन् ! जिनके जीवन में सत्वगुण अथवा रजोगुण रहते हुए भीं अन्त समय में तात्कालिक तमोगुण बढ़ जाते हैं, ये मनुष्य मरने के बाद 'योनि विशेष' अधोगती अर्थात् मूढ़ योनियों में चले जाते हैं ।

हे आत्मन् ! जिनके जीवन में तमोगुण की प्रधानता रहती है और उसी तमोगुण की प्रधानता मैं जिनका शरीर छुट जाता है वे मनुष्य मरने के बाद 'स्थान विशेष' अधोगती अर्थात् नरक में चले जाते हैं । 'अधोगच्छन्ति तामसाः' ।

हे आत्मन् ! जब जीव सत्वगुण की प्रधानता के समय शरीर त्याग करता है तो यह 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था' पुरुष स्वर्गादि ऊच्चलोक में जाते हैं ।

हे आत्मन् ! जिनका उद्देश्य परमात्मा प्राप्ति का है, परन्तु सुख भोग की सूक्ष्म वासना उनके मन से समाप्त नहीं हुई तो, ऐसे लोग शरीर छोड़कर ब्रह्मलोक में जाते हैं । वहाँ के भोग भोगने पर उनकी भोग की वासना मिट जाती है और ब्रह्माजी के १०० वर्ष आयुष काल पूर्ण होने पर वे योगभ्रष्ट ज्ञानीभक्त ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाते हैं । ***इसे क्रम मुक्ति कहते हैं*** ।

हे आत्मन् ! जो वैराग्यवान् ज्ञानी भोग की कामना नहीं करते, वे यहीं देह त्याग के साथ विदेह मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं । उन्हें कालान्तर की प्रतिक्षा नहीं करना पड़ती है न लोकान्तर में जाना पड़ता है । ***ऐसी मुक्ति को सद्योमोक्ष कहते हैं*** ।

जिनका उद्देश्य परमात्मा प्राप्ति का ही है और जिनमें न यहाँ के भोग की रुचि है न ब्रह्मादिक लोकों के सुख की सूक्ष्म वासना है । किन्तु संशय विपर्यय बुद्धि में बना रहता है और अन्त काल में निर्गुण के ध्यान सोऽहम् भाव से जो विचलित हो गये हैं, ऐसे साधक किसी ज्ञानी कुल में योगियों के कुल में जन्म लेते हैं, जिन्हें जन्म से ही ऐसा वातावरण, शिक्षा, ज्ञान, वैराग्य प्राप्त होता रहता है जिसके फल स्वरूप अपने स्वरूप ब्रह्मभाव में दृढ़ता प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं ।

हे आत्मन् ! जिनका उद्देश्य तो भगवत प्राप्ति ही रहा है परन्तु सांसारिक सुख भोग की वासना को वह मिटा नहीं सका । इस लिये अन्तिम काल में ब्रह्मभाव

से विचलित हो जाने के कारण वह स्वर्गादि लोकों में जाकर वहाँ के भोग भोगकर फिर स्वर्ग से लौट इस मृत्युलोक में किसी शुद्ध आचरण वाले श्रीमन्त के घर जन्म लेता है। वहाँ पूर्व जन्म के साधन अभ्यास के फल से परमात्मा की और आकर्षित हो जाता है तथा एक या दो जन्म में मुक्ति पा जाता है ।

हे आत्मन् ! जिनका उद्देश्य केवल स्वर्गादिक लोकों को प्राप्तकर दिव्य सुखभोग मात्र की ही इच्छा रहती है, ऐसे सकामी लोग परमात्मा की प्राप्ति के साधन आत्मज्ञान में रुचि न रख वे अज्ञानि लोग यज्ञ, तप, दान आदि शुभकर्म कर उन स्वर्गादि लोकों में जाते हैं और वहाँ के दिव्य भोग भोगकर, पुण्य क्षीण होने पर पुनः इसी मृत्युलोक में लौट कर अपनी वासनानुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, बनकर जन्म-मरण को प्राप्त होते रहते हैं ।

अन्त कालिन वासना अनुसार जिसका जैसा कर्म होता है, और शास्त्रादि के श्रवण द्वारा जिसको जैसा भाव प्राप्त हुआ है उन्हीं के अनुसार वह पुनः मानव शरीर धारण करने के लिये स्त्री-पुरुष मैथुन प्रक्रिया द्वारा शुक्र रूप से माता की योनि में प्रवेश कर जाता हैं। कितने ही जीवात्मा तो नाना प्रकार की ज'म् योनियों में चले जाते हैं और दूसरे कितने ही स्थाणु (स्थावर) भाव का अनुसरण करते हैं। अर्थात् लता, वृक्ष, तृण, पर्वत आदि बनजाते हैं । इस प्रकार से यह जीवात्मा की गती होती है। इनमें जिनके पुण्य-पाप समान होते हैं वे मनुष्य जन्म को प्राप्त होते हैं और जिनके पुण्य कम तथा पाप ज्यादा होते हैं वे पशु-पक्षी का शरीर धारण करके उत्पन्न होते हैं तथा जिनके पाप ही अत्यधिक होते हैं पुण्य नहीं के बराबर होते हैं वे तीर्यंच योनियों को प्राप्त होते हैं। अर्थात् कीट पतंग, सर्प, बिच्छु, चूहा तथा स्थावर भाव को प्राप्त हो कर वृक्ष तथा त्रण पर्वत नदी आदि जड़ शरीर में उत्पन्न होते हैं ।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥

- २-२-८

जो यह जीवों के कर्मानुसार नाना प्रकार के भोगों का निर्माण करने वाला परमपुरुष परमेश्वर प्रलय काल अर्थात् सुषुप्ति काल में समस्त जीवों के सो जाने

पर भी जागता रहता है । वही परम विशुद्ध तत्त्व है वही ब्रह्म है । वही अमृत कहलाता है तथा उसी में सम्पूर्ण लोक आश्रय पाये हुए हैं । उसे कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता । यही है वह परमात्मा है जिसके विषय में तुमने पूछा था व मैंने बताने की प्रतिज्ञा की थी ।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यतेचाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः ।।

-२-२-११

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड का प्रकाशक सूर्य देवता लोगों की आँखों से होने वाले; बाहार के दोषों में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब प्राणीयों का अन्तरात्मा परमात्मा एक है तो भी लोगों के दुःखों से लिप्त नहीं होता । क्योंकि वह जल में कमल की तरह सबमें रहते हुए भी सबसे अलग है ।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।

- २-२-१२

जो सब प्राणीयों का अन्तर्यामी अद्वितीय एवं सबको वश में रखने वाला परमात्मा अपने एक ही रूप को बहुत प्रकार से बना लेता है, उस अपने अन्दर रहने वाले परमात्मा को जो ज्ञानी पुरुष निरन्तर अपने अन्दर स्थित देखता है उसी को सदा स्थिर रहने वाला सनातन परमानन्द मिलता है । उसे ही वास्तविक् सुख मिलता है अन्य को नहीं ।

(- गीता १५-११)

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांन्तिः शश्वती नेतरेषाम् ।।

- २-२-१३

जो नित्यों का भी नित्य है, चेतनों का भी चेतन है और एक होते हुए भी इन अनेक जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है, उस अपने अंदर रहने वाले पुरुषोत्तम को जो ज्ञानी निरन्तर देखता रहता है, उन्हीं को सदा अटल रहने वाली शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ॥

-२-२-१५

वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है न चन्द्रमा और न तारों का समुदाय ही प्रकाशित होता है और न ये बिजलियाँ ही वहाँ प्रकाशित होती है । फिर यह लौकिक अग्नि तो वहाँ कैसे प्रकाशित हो ही नहीं सकती है । जब कि उपरोक्त सभी उस एक से ही प्रकाशित होते हैं । किन्तु वह किसी से प्रकाशित नहीं होता । इसलिये उसे वेदों में स्वयं प्रकाश कहा है । उसी के भय से अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र तथा मृत्यु अपने अपने कार्य में प्रवृत होत हैं ।

२-२-१५

- (गीता १५/६)

RRR

तृतीय वल्ली

इह चेदशकद् बोद्धुं प्रक्शरीरस्य विस्त्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४॥

- २-३-४

यदि इस देव-दुर्लभ मनुष्य जीवन को पाकर इसके रहते रहते ही अपना परम लक्ष्य परमात्म साक्षात्कार हल कर लिया तो जीव का परम कल्याण ही है, नहीं तो फिर उसे अनेक कल्पों तक विभिन्न लोकों और योनियों में शरीर धारण करने के लिये विवश होना पड़ेगा ।

अतएव मनुष्यों को मृत्यु से पूर्व शरीर के स्वस्थ रहने तक ही परमात्मा को आत्मा रूप से जान लेना चाहिये ।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रवतोऽन्यत्रकथं तदुपलभ्यते ॥

- २-३-१२

वह परमात्मा वाणी आदि कर्मेन्द्रिय, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय तथा मनादि

अन्तःकरण से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है । । किन्तु वह है अवश्य और उसे प्राप्त करने की तीव्र इच्छा रखने वाले को वह अवश्य मिलता भी है । इस बात को जो दृढ़ विश्वास पूर्वक नहीं मानता उसको वह कैसे मिल सकता है ? इस परमात्मा को तो सद्गुरु कृपा द्वारा ही ***'सोऽहम्'*** रूप में जानने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग, साधन नहीं ।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।।

-२-३-११

इन्द्रियाँ की स्थिर धारणा को ही योग मानते हैं उस स्थिति में साधक विषय दर्शन रूप सब प्रकार से प्रमाद रहित हो जाता है, परन्तु यह योग उदय और अस्त होने वाला है । अतः परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाले साधक को निरन्तर सोऽहम् इस ज्ञान योगयुक्त रहने का दृढ़ अभ्यास करते रहना चाहिये ।

अस्ती त्येवो पलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्ती त्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ।।

- २-३-१३

अतः साधकको चाहिये कि वे उस परमात्मा को पहले तो अवान्तर वाक्य द्वारा 'वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चय पूर्वक ग्रहण करना चाहिये अर्थात् पहले उसके अस्तित्व का दृढ़ निश्चय करना चाहिये तदन्तर तत्त्वमसि महावाक्य द्वारा अर्थात् सोऽहमात्मा भाव से उसे ग्रहण करना चाहिये । परमात्मा है और वह आत्मरूप से, मैं रूप से विद्यमान है । इस प्रकार परमात्मा की सत्ता को आत्मरूप से स्वीकार करने वाले साधक के लिये परमात्मा का तात्त्विक अर्थात् सोऽहम् स्वरूप अपने आप शुद्ध हृदय में प्रत्यक्ष हो जाता है ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।

- २-३-१४

इस साधक के हृदय में स्थित जो कामनाएँ हैं वे सबकी-सब जब समूल नष्ट हो जाती है, तब मरणधर्मी मनुष्य अमर हो जाता है । और वह यही ब्रह्म का

'सोऽहम्' रूप से भली भाँति अनुभव कर लेता है ।

न मोक्षो नभसः प्रष्ठे न पाताले न भूतले ।
अज्ञानहृदयग्रन्थिर्नाशो स मोक्षइति स्मृतः ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येताव द्ध्यनु शासनम् ॥

- २-३-१५

जब इसके हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ भली भाँति खुल जाती है, तब वह मरण धर्मा मनुष्य शरीर में स्थित जीव इसी शरीर में अमर हो जाता है और यहीं इस मनुष्य शरीर में ही उस परब्रह्म परमेश्वर का भली भाँति 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप में साक्षात् अनुभव करलेता है । बस इतना ही सनातन उपदेश है ।

अ'ुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषी कां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रम मृतमिति ॥

- २-३-१७

सबका अन्तर्यामी अ'ुष्ठ मात्र परिमाणवाला परमपुरुष सदैव सब प्राणीयों के हृदय में भली भाँति प्रविष्ट है, उसको मुँज से सींक भाँति अपने जीव भाव इस शरीर से पृथक् साक्षीरूप जानना चाहिये । उसी को विशुद्ध अमृत स्वरूप समझे वही विशुद्ध अमृत है । इस प्रकार जो भी इस उपदेश को आत्मविद्या को ठीक-ठीक श्रद्धा पूर्वक धारण करता वह मोक्ष को प्राप्त होगा इसमें तनिक भी सन्देह न करें ।

न साम्परयः प्रतिभाति बालंम प्रमद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म् ।

प्रमाद करने वाला तथा द्रव्य के मोह द्वारा मूढ़ अविवेकी जन के लिये परलोक की प्राप्तिरूप प्रयोजन वाला ज्ञान साधन बुद्धि में स्थित नहीं होता ।

FFF

प्रश्नोपनिषद्

(अथर्व वेद के पिप्पलाद्–शाखीय ब्राह्मण भाग से)

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रि रेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते । १३

दिन और रात का जोड़ जगत्पति परमेश्वर का पूर्ण रूप है । उसका दिन तो मानो उसका प्राण है जो सबको जीवन देने वाला प्रकाशमय विशुद्धस्वरूप है और रात्रि ही भोग रूप रयि है । अतः जो दिन में स्त्री सहवास करते हैं, ये लोग सचमुच अपने प्राणों को ही क्षीण करते हैं । तथा जो मनुष्य रात्रि में स्त्री सहवास करते हैं, वह ब्रह्मचारी के समान है । रजोदर्शन से १६ दिन तक स्वभाविक ऋतु काल कहलाता है । इनमें पहली चार रात्रियाँ तथा ग्यारहवी और तेरहवी रात्रियाँ सर्वथा वर्जित है । शेष दश रात्रियों में भी पर्व के दिन (एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, ग्रहण, संक्रान्ति, जन्माष्टमी, राम नवमी, शिवरात्रि आदि दिनों) को छोड़कर पति या पत्नी रति कामना से जो पुरुष महिने में केवल दो रात्रि स्त्री सहवास करता है वह ग्रहस्थाश्रम में रहता हुआ भी ब्रह्मचारी मानाजाता है । - (मनुस्मृति ३/४५-४७, ५०)

तृतीय प्रश्न का उत्तर क्रमशः

प्रश्न -१ : प्राण किससे उत्पन्न होता है ?

उत्तर : **'आत्मन एष प्राणों जायते यथैषा पुरुषो छायौतस्मिन्नेतदाततं मनोकृते नायात्यास्मिञ्शरीरे '**

यह प्राण परमात्मा से उत्पन्न होता है , जिस प्रकार यह छाया पुरुष के होने पर ही होती है, उसी प्रकार यह प्राण इस परमात्मा के ही आश्रित है और उस शरीर में मन से किये हुए संकल्प से आता है ।

प्रश्न - २ : वह इस मनुष्य शरीर में कैसे प्रवेश करता है ?

उत्तर : जिस प्रकार चक्रवर्त्ती महाराज स्वयं ही भिन्न-भिन्न ग्राम,

मण्डल, और जनपद आदि में पृथक्-पृथक् अधिकारियों की नियुक्ति करता है, और उनका कार्य बाँट देता है, उसी प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ प्राण भी अपने अ'स्वरूप अपान, व्यान, आदि दूसरे प्राणों को शरीर के पृथक्-पृथक् स्थानों में भिन्न-भिन्न कार्य के लिये नियुक्त करदेता है ।

प्रश्न -३ : अपने को विभाजन करके शरीर में किस प्रकार से स्थित रहता है ?

उत्तर : वह प्राण गुदा और उपस्थ में अपान को, रखता है, तथा स्वयं मुख और नासिका द्वार से विचरता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित रहता है । शरीर के मध्य भाग में समान रहता है यह समान वायु ही इस प्राणाग्नि में हवन किये हुए अन्न के रस को समस्त शरीर में यथायोग्य समभाव से पहुँचाता है । उससे ये सात ज्वालाएँ (दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो नासिका द्वार, और एक मुख) समस्त विषयों को प्रकाशित करती है ।

व्यान : यह शरीर में जो हृदय प्रदेश है, जो जीवात्मा का निवास स्थान है, मूलरूप से एक सौ नाड़ियों का समुदाय है उनमें से एक-एक नाड़ी में सौ शाखाऐं हैं, प्रत्येक शाखा नाड़ी की फिर बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं । इस प्रकार इस शरीर में कुल बहत्तरकरोड़ नाड़ियाँ है । इनमें व्यान वायु विचरण करता है ।

उदान : ऊपर बतलायी हुई बहोत्तर करोड़ नाड़ियों से भिन्न एक नाड़ी और है जिसे सुषुम्ना कहते हैं जो हृदय से निकलकर मस्तक में गयी है उसके द्वारा उदानवायु ऊपरकी ओर विचरता है वह पुण्यकार्यों के द्वारा मनुष्य को मृत्यु के बाद पुण्यलोक में ले जाता है । पापकर्मों के कारण उसे पापयोनियों में ले जाता है तथा पाप और पुण्य दोनों प्रकार के मिश्रित कर्मों के फल भोगने हेतु जीव को मनष्य शरीर में ले जाता है ।

एक शरीर से निकल कर जब मुख्य प्राण उदान को साथ लेकर उसके द्वारा दूसरे शरीर में जाता है, तब अपने अ' भूत समान आदि प्राणों, इन्द्रियों तथा मन को तो साथ ले जाता है और इन सबका स्वामी जीवात्मा भी उसी के साथ जाता है । मृत्यु के समय यह जिस सङ्कल्प वाला होता है उस सङ्कल्प के साथ मुख्य

प्राणमें स्थित हो जाता है । मुख्य प्राण तेज उदान से युक्त हो मन इन्द्रियों से युक्त जीवात्मा उसके सङ्कल्पानुसार भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनि को ले जाता है । अतः मनुष्य को उचित् है कि अपने मन में निरन्तर एक आत्म चिन्तन भगवत् स्मरण ही बनाये रखे, दूसरा सङ्कल्प न आने दें क्योंकि जीवन अल्प है और अनित्य है न जाने, कब इस शरीर का अन्त हो जावे और कहा भी है 'अन्त मति सो गति' अगर भूलगये तो ८४ लाख योंनियों का भ्रमण करना ही होगा ।

जो कोई विद्वान् इस प्रकार इस प्राण के रहस्य को समझ लेता है प्राण के महत्व को समझकर हर प्रकार से उसे सुरक्षित रखता है उसकी अवहेलना नहीं करता उसकी सन्तान परम्परा कभी नष्ट नहीं होती । वह अमर हो जाता है ।

जो प्राण की उत्पत्ति अर्थात् जिससे एवं जिस प्रकार यह उत्पन्न हुआ है, इस रहस्य को जानता है शरीर में उसके प्रवेश करने की प्रक्रिया तथा उसकी व्यापकता का ज्ञान रखता है, तथा जो प्राण की स्थिति को अर्थात् बाहर और भीतर कहाँ-कहाँ वह रहता है इस रहस्य को तथा बाहरी और भीतरी अर्थात् आधिभौतिक और आध्यात्मिक पाँचों भेदों के रहस्य को भली भाँति समझ लेता है, वह अमृत स्वरूप परमानन्द परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।

गार्ग्य महर्षि ने पिप्पलाद मुनि से पूछा :

गाढ़ निद्रा के समय उस मनुष्य शरीर में रहने वाले देवता में से कौन कौन सोते हैं तथा कौन-कौन जागते हैं ?

जिस प्रकार अस्त होते सूर्य की समस्त रश्मियाँ किरण सिमट कर सूर्य में लय होकर पुनः उदय होने पर सब और फैल जाती है उसी प्रकार नींद में मनुष्य की समस्त इन्द्रियाँ अपने देवता सहित मन में लय हो जाती है । उस समय यह जीवात्मा न देख सकता है न, सूंघ सकता है, न स्पर्श कर सकता है, न सुन सकता है, न रसास्बादन ही कर सकता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न मैथुन का आनन्द भोगता है, न मल-मुत्र का त्याग करता है और न चलता ही है । उस समय वह सो रहा है, 'ऐसा लोग कहते हैं ।'

उस समय समस्त शरीर में पाँच प्राण रूप अग्नियाँ ही जागती रहती है ।

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेता बाहुती समं नयतीति स समानः मनो ह वाव यजमानः इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमान महरहर्ब्रह्म गमयति ।

- प्रश्न - ४/४

यह जो मुख्य प्राण का श्वाँस-प्रश्वास के रूप में शरीर के बाहर निकलना और भीतर लौट जाना है, वही मानो इस यज्ञ में आहुतियाँ पड़ती है । इन आहुतियों द्वारा जो शरीर के पोषक तत्त्व शरीर में प्रवेश कराये जाते हैं, वे ही हवि है । उस 'हवि' को समस्त शरीर में आवश्यकतानुसार समभाव से पहुँचाने का कार्य समान वायु का है इसीलिये उसे समान कहते हैं । वही इस रूपक में मानों 'होता' अर्थात् हवन करने वाला 'ऋत्विक' है । अग्नि रूप होने पर भी आहुतियाँ को पहुँचाने का कार्य करने का कारण इसे 'होता' कहा गया है । पहले बताया हुआ मन ही मानो यजमान है । और उदान वायु ही मानो उस यजमान का अभीष्ट फल है । यह उदान ही मन को प्रतिदिन निद्रा के समय कर्म फल के भुगतान के लिये स्वर्गादि एवं ब्रह्मलोक में : परमात्मा के निवास स्थान रूप हृदयगुहा में ले जाता है । वहाँ इस मन के द्वारा जीवात्मा निद्राजनित विश्राम रूप सुख का अनुभव करता है । क्योंकि जीवात्मा का निवासस्थान भी वही है यह सुख तामस सुख है । और परब्रह्म की प्राप्ति का सुख गुणातीत है इतना भेद है ।

प्रश्न : स्वप्नावस्था को कौन देखता है ?

उत्तर : इस स्वप्नावस्था को यह जीवात्मा (देव) स्वयं ही अपनी विभुति का अनुभव करता है । दिन में देखी, सुनी, सूंघी, स्पर्श की, रसास्बाद की वस्तु एंव नाना प्रकार की अघटित घटना का जाल स्वप्नावस्था में देखने में आता है । जो पूर्व न कभी देखा सुना सोचा गया था वह स्वयं ही बनकर स्वयं ही उसका द्रष्टा होता है । इस स्वप्नकाल में जीवात्मा के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं रहती । तथा निद्राकाल में जीवात्मा मन के द्वारा स्वप्न कि घटनाओं को उस समय नहीं देख सकता तब यह मन उदान वायु के आधीन हो जाता है और उदान इसे जीवात्मा के निवास स्थान हृदय में पहुँचाकर मोहित कर देता है । उस समय निद्रा जनित सुख का अनुभव भी इसी जीवात्मा को होता है । इस शरीर में सुख-दुःखों का भोगने वाला प्रत्येक अवस्था में प्रकृतिस्थ पुरुष अर्थात् जीवात्मा ही है । (गीता १३/

१९) विज्ञान स्वरूप पुरुष जीवात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियों और मन के सहित समस्त कर्म करने वाला यह भी उन अविनाशी परब्रह्म में ही स्थिति पाता है । उन्हें प्राप्त कर ही इसे सच्ची शान्ति मिलती है ।

सबके परम कारण जिन परमेश्वर का समस्त प्राण, पांचो महाभूत दसों इन्द्रियाँ और अन्तः करण सहित स्वयं विज्ञान स्वरूप जीवात्मा ये सब आश्रय लेते हैं । उन परम अक्षर अविनाशी परमात्मा को जो कोई सोऽहम् रूप से जानलेता है वह सर्वज्ञ है तथा सर्वरूप परमेश्वर में प्रविष्ट हो जाता है ।

तस्मै स होवाच । इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोड़श कलाः प्रभावन्तीति ॥ - प्रश्नोप - ६/२

महर्षि बोले : हे प्रिय ! यह सम्पूर्ण जगत् ही वह ब्रह्मका विराट् शरीर है । वे ही पुरुष हैं । उन्हें खोजने के लिये अन्यत्र कहीं नहीं जाना है । वे हमारे इस शरीर के भीतर ही विराजमान हैं । आवश्यकता है उन्हें पाने के लिये उत्कट इच्छा का होना तब फिर वे उस मुमुक्षु से दूर नहीं न मुमुक्षु उनसे दूर रह सकता है । तब वे परमात्मा उस जीवात्मा को वहीं उसके हृदय में ही मिल जाते हैं ।

स ईक्षांचक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ - प्रश्नोप. - ६/
३

उसने विचार किया कि इस शरीर में ऐसा कौनसा तत्त्व डाला जाय कि जिसके रहने से मेरी प्रतीति हो व जिसके न रहने से मेरा लोगों को अभाव सा प्रतीत हो, मैं निकला हुआ-सा उन लोगों के लिये हो जाउँगा ।

तब फिर परब्रह्म परमेश्वर ने महासर्ग के आदि में जगत् की रचना करते समय सर्व प्रथम प्राणरूप सर्वात्मा हिरण्यगर्भ को बनाया फिर सात्विकी श्रद्धा अर्थात् आस्तिक बुद्धि को उत्पन्न किया । उसके बाद शरीर के उपादान भूत आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पंचमहाभूतों कीरचना की फिर मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार और इन्द्रिय समुदाय की रचना की, फिर अन्न एंव अन्न से वीर्य की रचना की । फिर तप, एवं नाना प्रकार के मन्त्र और नाना प्रकार के कर्म और उनके भिन्न-भिन्न फल एवं लोकों का निमार्ण किया एवं लोकों के नाम की रचना करके इस

प्रकार सोलह कलाओं से युक्त जीवात्मा सहित परमात्मा इसमें प्रविष्ट हो गये ।

उसी प्रकार प्रलय का भी विधान बनाया, जिस प्रकार नदियाँ अपने लक्ष्य समुद्र को प्राप्त कर अपना नाम रूप दोनों का परित्याग कर अनंत समुद्र की गोद में सदा के लिये सो जाती है । उसी प्रकार यह जीव भी अपने लक्ष को अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त होकर अपना नामरूप को खो देते हैं । फिर नदियाँ समुद्र ही पुकारी जाती है । समुद्र में मिलने के बाद कोई भी दर्शक यह नहीं कह सकता कि समुद्र में यह अमुक नदी का जल है । वह सब समुद्र रूप तथा समुद्र के ही नाम, रूप, गुण वाली हो जाती है । उसी प्रकार यह जीव जब परमात्मा से मिल जाता है तो फिर यह 'पुरुष' नाम से ही पुकार जाता है ।

अतः परमात्मा जिस प्रकार इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में है, उसी प्रकार हमारे इस शरीर में भी है । उन हृदय स्थित परमदेव पुरुषोत्तम को जो जिज्ञासु 'सोऽहम्' रूप से जानलेता है वह उन सोलह कलाओं वाले परम पुरुष को भी सोऽहम् रूप से जानलेता है ।

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्यु परिव्यभा इति ।। ६ ।।

रथ चक्र की नाभि के आधार पर जिस प्रकार अरे स्थित होते हैं, वैसे ही जिसमें समस्त कलायें सर्वथा स्थित है, उस जानने योग्य सबके आधार भूत परम पुरुष परमेश्वर को जानना चाहिये । जिसके फल स्वरूप हे मुमुक्षुओं ! तुम्हें मृत्यु का दुःख स्पर्श न कर सके ।

FFF

मुण्डकोपनिषद

(अथर्व वेद की शौनकी शाखा में)

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

शौनक मुनि ने महर्षि अ ि रा से पूछा - भगवन् ! वह परमतत्त्व क्या है, उसे

कैसे जाना जाय ? विख्यात महर्षि अंगिरा बोले - ब्रह्म को जानने वाले इस प्रकार निश्चय पूर्वक कहते आये हैं कि दो विद्याएँ जानने योग्य है । एक 'परा' दूसरी 'अपरा' । उन दोनों में से ऋगवेद, यर्जुवेद, सामवेद तथा अथर्व वेद शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष ये सब तो अपरा विद्या के अन्तर्गत है । तथा जिस विद्या द्वारा वह अविनाशी परब्रह्म तत्त्व अर्थात् मैं रूप से जाना जाता हैं वह परा विद्या है । (१/१/४,५) यद्यपि परा विद्या भी वेदों में ही है, किन्तु उतना अंश छोड़कर शेष अंश अपरा विद्या के अन्तर्गत ही आता है ।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभु सर्वगतहं सुसुक्ष्मं तदव्ययं यभ्दूतयोनिं परिश्यन्ति धीराः ॥६॥

वह जो जानने में न आने वाला पकड़ में न आने वाला गोत्र आदि रहित रंग और आकृति से रहित नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों से रहित और हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियों से भी रहित है तथा वह जो नित्य सर्वव्यापि अन्तरात्मा रूप से सब में फैला हुआ अत्यन्त सूक्ष्म और अविनाशी परब्रह्म है, उस समस्त प्राणीयों के कारण को ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं ।

किन्तु जो अविवेकी मनुष्य होते हैं वे अपने सामने संसार में प्रत्यक्ष फल यज्ञों द्वारा प्राप्त हो सकेगा ऐसा जान उन सकाम कर्म यज्ञादिकों को ही श्रेष्ठ बताते हैं जिनमें नीच श्रेणी कीउपासना रहित सकाम कर्म बताया गया है । जो मूढ़ यही कल्याण का मार्ग है, ऐसा मानकर इसकी प्रशंसा करते हैं, वे बारम्बार निःसन्देह वृद्धावस्था और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं ॥७॥ और वे मूर्ख लोग उपासना रहित सकाम कर्मों के अनुष्ठान करने पर ही यह मिथ्या अहंकार कर बैठते हैं कि हम कृतार्थ हो गये । क्योंकि वे मूर्ख लोग विषयों की आसक्ति के कारण कल्याण के मार्ग को नहीं जानपाते एवं पुण्य समाप्त होने पर पुनः नीचे गिर जाते हैं ।

''क्षीणे पुण्ये मृत्यु लोकं विशन्ति''

- गीता १/२९

''आब्रह्मभूवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन''

- गीता ८/१६

''अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्''

- गीता ९/३३

''स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुःख दायी''

- रामायण

फिर मनुष्य योनि ही प्राप्त हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । जैसा उसका पूर्व का कर्म शेष होगा उसी अनुसार इससे भी नीच योनी जैसे शुकर, कुकर, कीट, पत' आदि में या घोर रौरवादि नरकों में उसे ढकेल दिया जाता है ।

- १-२-७,९

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रंह्मनिष्ठम् ।।

- १-२-१२

इसलिये अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्यको पहले बतलाये हुए सकाम कर्मों के फल स्वरूप इस लोक और परलोक के समस्त सांसारिक सुखों की भलीभाँति परीक्षा करलेना चाहिये कि इस जगत् से ब्रह्मलोक पर्यन्त के समस्त भोग, सुख से रहीत एवं नाशवान है तथा दुःख की प्राप्ति कराने वाले हैं । इसलिये समस्त भोगों से विरक्त हो जाना ही मुमुक्षु जनों का परम कर्त्तव्य है । तथा कर्तापन के अभिमान से किये जाने वाले समस्त सकाम कर्म अनित्य फल को देने वाले हैं । जो क्रियासाध्य नहीं है, ऐसे नित्य परमेश्वर की प्राप्ति वे अनित्यकर्म नहीं करा सकते । यह सोचकर उस जिज्ञासु साधक को परमात्मा का वास्तविक तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये हाथ में समिधा लेकर और विनय भाव से किसी ऐसे सदगुरु की शरण में जाना चाहिये, जो वेदों के रहस्य को भली भांति जानते हैं और परब्रह्म परमात्मा में स्थित हों । (गीता ४/३४) फिर वह गुरु जिज्ञासु को ज्ञान का (१-१-१२) अधिकारी जानकर उस गूढ़ तत्त्व का उपदेश भली प्रकार करेगा ।

गुढ़ तत्त्व नहीं साधु दुरावहीं ।
आरत अधिकारी जन जहँ पावहिं ।।

- रामायण

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त चित्तायशमान्विताया ।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

उन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा को चाहिये कि अपनी शरण में आये हुए विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा, उपरामता, समाधानता तथा मुमुक्षुता सम्पन्न शिष्य की भली प्रकार परीक्षा लेकर ही ब्रह्म विद्या का सोऽहम् तत्त्व विवेचन पूर्वक भली भाँति समझाकर उपदेश करे जिससे वह शिष्य नित्य अविनाशी परब्रह्म परमात्मा को 'मैं' रूप से साक्षात्कार कर सके ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

- गीता १८/६७

यह रहस्यमय उपदेश किसी भी काल में न तो तपरहित अशुद्धाहार, विहार एवं कर्म करने वाले दुराचारी मनुष्य को कहना चाहिये, न गुरु, ईश्वर, भक्ति रहित, सुनने की इच्छा नहीं करने वाले को भी नहीं कहना चाहिये तथा जो गुरु परमात्मा में दोष दृष्टि रखता हो उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये ।

RRR

द्वितीय खण्ड

प्रणवो धनुःशरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत ॥ ४॥

प्रणव ओंकार ही धनुष है । आत्मा ही बाण है और परब्रह्म परमेश्वर ही उसका लक्ष्य - कहाजाता है । वह प्रमाद रहित मनुष्य द्वारा ही बींधा जाता है । उसे बेंधकर बाण की तरह उस लक्ष्य में तन्मय हो जाना चाहिये ।

यस्मिन्धौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मनमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥५॥

जिसमें स्वर्ग पृथ्वी और उनके बीच का आकाश तथा समस्त प्राणों के सहित मन गुँथा हुआ है उसी एक सबके आत्म स्वरूप परमेश्वर को जानो दूसरी

समस्त बातों को सर्वथा छोड़ दो यह अमृत का सेतु है ।

मनोमय प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्द रूपममृतं यद्विभाति ॥

- २-२-६

वह परमात्मा सबके प्राण और शरीर का नेता और मन में व्याप्त होने के कारण मनोमय है । यही हृदय कमल का आश्रय लेकर अन्नमय स्थूल शरीर में प्रतिष्ठित है, जो आनन्द स्वरूप अविनाशी परब्रह्म सर्वत्र प्रकाशित है । बुद्धिमान मनुष्य विज्ञान के द्वारा उसको भली भाँति प्रत्यक्ष कर लेता है ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८॥

कार्य और कारण रूप उन परब्रह्म पुरुषोत्तम को सद्गुरु के कृपा से तत्त्व से अर्थात् सोऽहम् रूप से जान लेने पर इस जीव की देह को मैं रूप जानने वाली ग्रन्थि खुल जाती है । भेद भ्रान्ति, कर्ताभोक्ता भ्रान्ति, संगभ्रान्ति, विकार भ्रान्ति तथा ब्रह्म से पृथक् जगत् सत्य यह पांचों भ्रान्ति रूप संसार एवं प्रमाणगत संशय, प्रमेयगत संशय तथा विपर्यय यह तीनों संशय आदि की निवृत्ति हो जाती है । इन समस्त भ्रान्ति एवं संशय के कारण इस ईश्वर अंश अविनाशी जीव ने अनित्य नश्वर, विकारी परिणामी जड़ शरीर को ही अपना स्वरूप मान रक्खा था एवं अपने को शुभाशुभ कर्मों का कर्ता एवं उनके फलों का भोक्ता मान रखा था । यह सभी संशय सद्गुरु से प्राप्त ज्ञान द्वारा समाप्त हो जाते है और समस्त अनादि संचित शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं । अर्थात् यह जीव समस्त बन्धनों एवं भ्रान्तियों से सर्वथा मुक्त होकर परमानन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमाग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ॥ १०॥

इस ''मैं'' रूप परब्रह्म को यह सूर्य रूप बुद्धि तथा चन्द्रमा रूप मन प्रकाशित नहीं कर पाते हैं । तारागण रूपी इन्द्रियाँ भी उसे नहीं जान पाते । फिर इस अग्नि रूप वाणी का पहुॅच तो वहाँ हो ही नहीं पाती । जैसे सूर्योदय के होने से ही समस्त दृश्य पदार्थ दिखाई पड़ते है, सूर्योदय के अभावकाल में कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता ।

इसी प्रकार स्वयं प्रकाश ''मैं'' पर ब्रह्म की उपस्थिति से ही समस्त दृश्य देह संघात अर्थात् मन, बुद्धि, चित, अहंकार दसों इन्द्रियाँ, दसों प्राणादि प्रकाशित होते हैं। वे पर प्रकाश जड़ पदार्थ अपने प्रकाश स्वयं प्रकाश मैं ब्रह्म को कैसे जान सकते हैं। अर्थात् कभी नहीं जान सकते।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

यह अमृत स्वरूप निजात्मा ब्रह्म ही एकमात्र सामने है। यह ब्रह्म सबके पीछे प्रकाशरूप से स्थित है। यह ब्रह्म ही दायीं और तथा बायीं ओर नीचे तथा ऊपर की ओर सर्वत्र फैले हुए हैं। इस विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में ये सर्व श्रेष्ठ ब्रह्म ही प्रत्यक्ष दिखायी दे रहे हैं। अर्थात् यहाँ कार्य-कारण रूप से एक अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किंचित् भी नहीं है।

''एकमेवा द्वितीयं ब्रह्म''नेहनानास्ति किञ्चन्''

RRR

तृतीय मुण्डक
(यह द्वैत की पुष्टि)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१।

३-१-१

यह मनुष्य शरीर मानो एक वृक्ष है। ईश्वर और जीव ये सदा साथ साथ रहने वाले दो मित्र पक्षी हैं। ये इस शरीर रूप वृक्ष में एक साथ एक ही हृदय रूप घोंसले में निवास करते हैं। इन दोनों में एक-जीवात्मा तो उस वृक्ष के फल रूप अपने कर्म-फलों को अर्थात् प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख-दुःखों को आसक्ति एवं द्वेष पूर्वक भोगता है और दूसरा ईश्वर उन फलों से किसी प्रकार भी संबन्ध न जोड़कर केवल देखता रहता है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्येत निष्कलं ध्यायमानः ॥

- ३-१-८

वह परमात्मा न तो नेत्रों से न वाणी से और न दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण करने में आता है । तथा तपसे, अथवा कर्मों से भी वह ग्रहण करने में नहीं आ सकता, उस अवयव रहित परमात्मा को तो विशुद्ध अन्तःकरण वाला अर्थात् इन्द्रियभोग पदार्थों की वासना से रहित साधक उस विशुद्ध अन्तःकरण से निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही मन की निर्मलता से देख पाता है । स्थूल चर्म चक्षुओं से नहीं ।

विमुढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।

- गीता : १५/१०

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।

- गीता १३/१८

द्वितीय खण्ड

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

- ३-२-३

यह आत्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है । यह जिसको स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । लेकिन यह पक्षपात रहित परमात्मा उसे ही स्वीकार करते हैं, जिनको परमात्मा के पाने लिये परमउत्कट इच्छा होती है । जिस मनको उनके बिना जल विहीन मछली की तरह तड़फ लग रही है यह परमात्मा उसके लिये ही अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है ।

नोट : नित्य प्राप्त वस्तु किसी साधन से त्रिकाल में प्राप्त नहीं हो सकती । इसीलिये यह भाव यहाँ प्रकटकिया है कि वह आत्मा तो सर्वत्र नित्य सबको सब समय प्राप्त ही है । अब उसे तो प्राप्त करना ही नहीं है, केवल विवेक की

आंखों से उसे देखना है । यह ज्ञान चक्षु गुरु शरणापन्न होने पर ही प्राप्त होता है । अपने आप पढ़ सुनकर नहीं ।

वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यास योगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

जिन मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधकों ने वेदान्त (उपनिषद्) शास्त्र के विज्ञान द्वारा उसके अर्थ स्वरूप परमात्मा को भली भाँति निश्चयपूर्वक जानलिया है वे समस्त प्रयत्न शील साधकगण मरण काल में शरीर त्याग कर ब्रह्मलोक में जाते हैं । और वहाँ परम अमृत स्वरूप होकर संसार बन्धन, जन्म-मरण चक्र से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं ।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

- ३-२-९

निश्चय ही जो कोई भी उस परब्रह्म परमात्मा को जान लेता है वह महात्मा ब्रह्म ही हो जाता है । उसके कुल में ब्रह्मको न जानने वाला नहीं होता । वह शोक से पार हो जाता है । पाप समुदाय से तर जाता है । हृदय की गाँठो से सर्वथा छुटकर अमर हो जाता है ।

ब्रह्म विद्या का अधिकारी कौन ?

उस ब्रह्म विद्या के विषय में यह बात वेद द्वारा कही गयी है कि जो निष्कामभाव से कर्म करने वाले वेदके अर्थ के ज्ञाता तथा ब्रह्म के उपासक है और श्रद्धा रखते हुए स्वयं 'एकार्षि' नाम वाले प्रज्वलित अग्नि में नियमानुसार हवन करते हैं तथा जिन्होंने विधि पूर्वक सर्व श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया है उन्हीं को यह ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिये ।

तदेतहचाभ्युक्तम् -

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धायन्तः ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्या वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥

- ३-२-१०

FFF

माण्डूक्योपनिषद्

सर्व ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाद ॥२॥

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है । **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** सबका सब ब्रह्म है और ओंकार उसका नाम होने के कारण नामी अर्थात् परमात्मा से अभिन्न है । अतः यह आत्मा जो यह दृश्य जगत् में परिपूर्ण है वास्तव में उन अखण्ड निरवयव परब्रह्म को चार पाद वाला कहना भी नहीं बनता, फिर भी उनके समग्ररूप की व्याख्या करने के लिये चार पादों की कल्पना की गई है । यह चार पाद वाला ब्रह्म ही है ।

प्रणव की चार मात्रा होती हैं ।

अ + उ+ म से ओम् (ॐ)बनता है । जिसे प्रणव कहते हैं । एवं उसको समझाने हेतु जीवात्मा तथा उसके स्थूल, सूक्ष्म, कारण, इन तीनों शरीरों का उदाहरण देते हुए परमात्मा के तीन पादों का वर्णन किया गया है ।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्था के अभिमानी ही समष्टि तथा व्यष्टि भाव से इस प्रकार है ।

	व्यष्टि शरीर अभिमानी	**समष्टि शरीर अभिमानी**	**ब्रह्म की प्रणव मात्रा के साथ तुलना**	
जाग्रत	विश्व	वैश्वानर	अ	= प्रथम पाद
स्वप्न	तैजस	सूत्रात्मा	उ	= द्वितीय पाद
सुषुप्ति	प्राग	ईश्वर	म	= तृतीय पाद

मात्रा रहित ओंकार की चौथी मात्रा ही ब्रह्म का चौथा पाद ।

इसी प्रकार मात्रा रहित प्रणव ही व्यवहार में न आने वाला प्रपञ्च से

अतीत कल्याणमय अद्वितीय पूर्ण ब्रह्म का चौथा पाद है 'वह मैं हूँ' । जो इस प्रकार जानता है वह जीवात्मा अवश्य ही परात्पर ब्रह्म परमात्मा में पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है ।

इस प्रकार परमात्मा के नामात्मक प्रणव अर्थात् ओम्, ॐकार की चार मात्रा है । अ मात्रा, उ मात्रा, म मात्रा तथा मात्रा रहित अमात्र या अकार, उकार, मकार एंव अमात्रा ।

परब्रह्म परमात्मा और उनके नाम की महिमा अपार है । उसका कोई पार नहीं पा सकता । इस प्रकरण से उन असीम पूर्ण ब्रह्म परमात्मा के चार पादों की कल्पना उनके स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों सगुण रूपों की और निर्गुण निराकार स्वरूप की एकता दिखाने के लिये तथा नाम और नामी की सब प्रकार से एकता दिखाने के लिये एवं उनकी सर्वभावेन सामर्थ्यरूप जो अचिन्त्य शक्ति है वह उनसे सर्वथा अभिन्न है । यह भाव दिखाने के लिये की गयी है, ऐसा अनुमान होता है ।

नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्

निर्गुण निराकार निर्विशेष पूर्णब्रह्म सर्वव्यापि अखण्ड परमात्मा न भीतर की ओर प्रज्ञावाला है, न बाहर की ओर प्रज्ञावाला है । न भीतर, बाहर दोनों ओर प्रज्ञावाला है । जो न ज्ञान स्वरूप है, न वह जानने वाला है और जो वह नहीं जानने वाला भी नहीं है ।

अदृष्टमव्यहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्यसारं ।

जो न देखने में आता है, न व्यवहार में लाया जा सकता है, न ग्रहण करने में आसकता है, न चिन्तन करने में आसकता है । न बतलाने में आसकता है और न जिसका कोई लक्षण ही है । जो एकमात्र आत्म सत्ता रूप से अर्थात् 'मैं रूप से ही प्रतीत होता हुआ अन्य सभी दृश्य जड़ वर्ग का प्रकाशक है ।

प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।।७।।

जिसमें समस्त प्रपंच का अभाव है ऐसा सर्वथा शान्त कल्याणमय अद्वितीय तत्त्व पूर्ण ब्रह्मका चैाथापाद मानाजाता है इस प्रकार इन चार पादों को

समझाने हेतु ही कल्पना की गई है । वैसे तो अवयव रहित अखण्ड निराकार परमात्मा का कोई विभाजन नहीं है । उसे आत्मरूप से बताया जाता है । '**अयमात्मा ब्रह्म**' उसे ही सद्गुरु से जानना चाहिये । '**सोऽयमात्मा चतुष्पात्**' अर्थात् यह चार पाद वाला आत्मा मैं हूँ ।

नोट : चारों वेदों के जिन-जिन अध्याय खण्ड में ब्रह्मविद्या की प्रधानता है उन्हीं को उपनिषद् माना गया है अन्य को नहीं ।

FFF

अहंग्रह उपासना

जिन व्यक्तियों की मन्द बुद्धि होने के कारण आत्मा और ब्रह्म का एकवज्ञान समझ में नहीं आता, उन्हें उस स्थिति तक पहुँचाने के लिये ॐ का उच्चारण करते हुए अहंग्रह ध्यान करना चाहिये । '**दीर्घप्रणवमुच्चार्य**' अर्थात् एक श्वाँस में ओम् का दीर्घ उच्चारण करके मनको वश में करना चाहिये । उत्तरगीता में भगवान कृष्ण अर्जुन को ओम् के उच्चारण की विधि बतलाते हुए कहते हैं '**घण्टा निनादवत्**' अर्थात् जैसे मन्दिर में द्वार पर लटकते हुए घन्टे को बजाने के पश्चात् एक देर तक लम्बी एवं शान्त होती हुई झन्कार (ध्वनि) होती रहती है । उसी प्रकार ओम् की मकार ध्वनी का उच्चारण भी दीर्घ होना चाहिये । 'ओ' का उच्चारण क्षण के लिये स्पष्ट रूप में करते ही 'मकार' दीर्घ करने हेतु मुख बदं करलें । इस प्रकार मकार दीर्घ होने से मन को शान्त करके बैठ जायें । मन के शान्त होने पर जिस अलौकिक निर्विषयक आनन्द की झलक आती है उसी ब्रह्मानन्द में डुबे रहें । वही जीवका अपना वास्तविक स्वरूप है । उस आनन्द का साक्षात्कार ही आत्म साक्षात्कार है । फिर जब मन बर्हिमुखी होने लगे तो पुनः पूर्वानुसार ॐ का उच्चारण करें । एकबार के ॐ के उच्चारण में दो बार श्वाँस न ले । जितना शरीर के अनुसार सहज रूप से बने उतनी देर तक मकार ध्वनी श्वाँस में करें । श्वाँस टूट जावे तो पुनः शान्त होकर धीरे-धीरे नासिका से श्वाँस ग्रहण कर आनन्द का अनुभव करे या

ध्वनी करें ।

ॐ के उच्चारण के साथ उसके अर्थ का भी मनन करना परम कर्तव्य है कि यह जगत् समस्त ॐकार स्वरूप है । वह ॐकार ब्रह्म स्वरूप से पृथक् नहीं और मैं उस ब्रह्म से पृथक् नहीं, क्योंकि ॐ स्वरूप जगत् से मैं पृथक् नहीं । अस्तु मैं ही ब्रह्म स्वरूप हूँ । इस प्रकार का ध्यान अभेद चिन्तन का नाम ही अहंग्रह उपासना है ।

संसार में जो कुछ कार्य-कारण रूप वस्तुऐं दिखती है वे सब ॐ कार स्वरूप है । इस नाते संम्पूर्ण जगत् ॐकार रूप है । संसार में जितने पदार्थ हैं उनके दो अंश हैं । एक नाम तथा दूसरा रूप । इसमें समस्त रूप अपने नाम अंश से पृथक् नहीं होते हैं । बिना नाम के रूप की पहचान नहीं । नाम में रूप निहित है । नाम के उच्चारण करते ही रूप आँखों में स्पष्ट झलकने लगजाता है । अस्तु रूप अंश नाम अंश में विद्यमान है । अर्थात् समस्त पदार्थ नाम मात्र ही है । और सभी नाम भाषामात्र है । भाषा से नाम पृथक् नहीं है । और कोई भी भाषा हो वह स्वर एवं व्यन्जन से पृथक् अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रखती है । अतः सभी भाषाऐ स्वर-व्यन्जन मात्र है । और सभी व्यन्जनों के उच्चारण के लिये स्वर आधार अनिवार्य है । बिना स्वर की सहायता के व्यन्जन अकेला बोला नहीं सकता । स्वर ही आठ स्थानों से निकलकर व्यन्जन का रूप धारण करते हैं । अतः सभी व्यन्जन स्वर मात्र है । और सभी स्वरों में आदि स्वर '**अ**' है । गीता अध्याय १० श्लोक ३३ में अर्जुन को अपनी विभुति का दिग्दर्शन कराते हुए बतलारहे हैं '**अक्षराणामकरोऽस्मि**' मैं अक्षरों में अकार हूँ अर्थात् समस्त वाणी में जो आदि स्वर 'अ' कार है वह मैं हूँ । वेद भी कहता है '**अकारो वै सर्वावाक्**' अर्थात् सम्पूर्ण वाणी अकार स्वरूप है । इस प्रकार अ तथा उ सम्पूर्ण वाणी के आदि रूप है । बच्चा भी जब जन्मता है तो 'उ आँ' 'उ आँ' करता है । और ॐ कार का भी पहला पाद 'अ' तथा द्वितीय पाद 'उ' है । इन दोनों के मिल जाने से 'ओ' बन जाता है । तथा 'ओ' का उच्चारण कर ओठ बन्द करलेने से 'म' अपने आप बन जाता है । इस प्रकार समस्त वाणी ओम स्वरूप है । इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्माण्ड ॐ स्वरूप है । क्योंकि सम्पूर्ण जगत् नाम-रूपमात्र है । सभी भाषा स्वर-व्यन्जन मात्र है, सभी व्यन्जन स्वर मात्र है । तथा सभी स्वर का आदि अ कार है एवं उ कार

है अस्तु वे 'अ' 'उ' रूप होने से ॐ मात्र है । इस प्रकार सकल संसार ओम् स्वरूप है । ओम् से समस्त नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न होने के कारण ओंकार कारण है एवं जगत् उसका कार्य है । और यह नियम है कि कार्य अंश अपने कारण तत्त्व से पृथक् सत्ता वाला नहीं होता; बल्कि वह कारण स्वरूप ही होता है । जो-जो भी अध्यस्त है वह अधिष्ठान ही है । अतः यहाँ तक यह सिद्ध हो चुका कि समस्त जगत् ॐकार स्वरूप है ।

और यह ॐ कार ब्रह्म स्वरूप है । क्योंकि अन्य शास्त्र भी कहते हैं कि '**तस्य वाचकः प्रणवः**' अर्थात् उस परब्रह्म का वाचक ओंकार है । '**ओमितिब्रह्म**' तैतरिय उप. '**प्रणवात्मकं ब्रह्म**' ब्रह्म प्रणव स्वरूप है । (त्रिपाद विभुती नारायण उप. १) '**हंस प्रणवोयोरभेदः**' पशुपात ब्राह्मण उप. इस प्रकार वाच्य एवं वाचक में अभेद होने से ओं कार ब्रह्म रूप है । परब्रह्म वाच्य है उनका वाचक ओंकार है । इस नाते ओंकार ब्रह्म स्वरूप है । और जगत् ओंकार स्वरूप है उस जगत् का व्याष्टि जीव (मैं) भी उस ओकांर से पृथक् नहीं है । अस्तु मैं स्वयं ही ओंकार स्वरूप हूँ । ओंकार और ब्रह्म के अभेद प्रमाण सिद्ध है । इसलिये मेरा ब्रह्म से अभेद सिद्ध है । अर्थात् सोऽहम् । वह ब्रह्म मैं हूँ । इस प्रकार अहम् का ग्रहण जिस ध्यान में हो उसे अहंग्रह उपासना कहते हैं । जैसे वह ब्रह्म मैं हूँ 'सोऽहम्' अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का जो ओंकार स्वरूप वह 'मैं हूँ' । इस प्रकार ओम् का उच्चारण करते हुए जगत्, ब्रह्म तथा जीव तीनों का अभेद चिन्तन करना चाहिये ।

''जड़ चेतन जग जीव यत सकल राम मय जान''

देशकाल दिसिविदेसहुमाही ।
कहहुँ सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ।

''सर्वं खल्विदं ब्रंह्म'

अब इस प्रकार संसार में जो कुछ भी जड़ पदार्थ व जीवादि चेतन प्रतीत होते हैं, सब राम स्वरूप अर्थात् ब्रह्म स्वरूप हैं । अब इस प्रकार जब सारा जगत् ब्रह्मस्वरूप है, तो फिर एक व्यक्ति 'मैं' जगत् एवं ब्रह्म से पृथक् कैसे हो सकता है, जो अपने को ब्रह्मरूप न मानू ? अस्तु सिद्ध है मैं भी ब्रह्म स्वरूप हूँ । अर्थात् सकल संसार का जो अधिष्ठान ब्रह्म है सो मैं हूँ ।

ब्रह्म के चार पाद : (१) विराट, (२) हिरण्यगर्भ, (३) ईश्वर, (४) साक्षी शुद्ध ब्रह्म ।

आत्मा के चार पाद : (१) विश्व, (२) तैजस, (३) प्राग, (४) जीव साक्षी अर्थात् कुटस्थ - शुद्ध चैतन्य

जो व्यष्टि भाव में जीव है वही समष्टि भाव में ईश्वर हैं ।

जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर इन तीनों शरीरों का अभिमान करने से जीव विश्व कहलाता है । और स्वप्न में दो शरीरों का (सूक्ष्म एवं कारण का) अभिमान करने से यह जीव तैजस कहलाता है तथा सुषुप्ति में कारण शरीर अज्ञान का अभिमान करने से जीव प्राग कहलाता है । और समाधि में निराभिमान होने के कारण साक्षी शुद्ध चेतन कहलाता है ।

अब इसका अभेद इस प्रकार करना चाहिये कि विश्व, तैजस से भिन्न नहीं है किन्तु उसीका स्वरूप है । तैजस प्राग से भिन्न नहीं है किन्तु उसीका स्वरूप है , एवं प्राग साक्षी से भिन्न नहीं है इसलिये साक्षी स्वरूप है । और उसी प्रकार विश्व साक्षी मेरा वास्तविक स्वरूप है, इसलिये मैं साक्षी हूँ । वैसे भी जो-जो कार्य है वह अपने कारण से पृथक् नहीं अस्तु में साक्षी हूँ इस प्रकार अहंग्रह चिन्तन करना चाहिये ।

अभेद चिन्तन का नियम है कि व्यष्टि, समष्टि से भिन्न नहीं होता । परन्तु समष्टि स्वरूप होता है । व्यष्टि अभिमानी विश्व, समष्टि अभिमानी विराट् से भिन्न नहीं, परन्तु उसी का ही स्वरूप है । उसी प्रकार व्यष्टि तैजस समष्टि हिरण्यगर्भ से पृथक् नहीं है । और व्यष्टि प्राग समष्टि ईश्वर से पृथक् नहीं है । बल्कि ईश्वर स्वरूप ही है ऐसे ही व्यष्टि साक्षी आत्मा समष्टि साक्षी ब्रह्म से भिन्न नहीं परन्तु ब्रह्म स्वरूप ही है । और वह साक्षी अभिन्न ब्रह्म मैं हूँ । इस प्रकार अंहग्रह ध्यान करना चाहिये ।

ओंकार के चार पाद में (१) अ, (२) उ, (३) म. (४) अमात्र ।

विश्व अभिन्न विराट् का नाम रखा है = 'अ'

तैजस अभिन्न हिरण्यगर्भ का नाम रखा है = 'उ'

प्राज्ञ अभिन्न ईश्वर का नाम रखा है = 'म'

जीव साक्षी अभिन्न, ईश्वर साक्षीका नाम रखा है = अमात्र

अकार उकार से भिन्न नहीं परन्तु उकार स्वरूप ही है । उ कार मकार से भिन्न नहीं तथा मकार अमात्र से पृथक् नहीं सो अमात्र मैं हूँ ।

इस प्रकार बोलें कि 'अ' में अपने आप 'उ' मिल जावे, तो अ + उ = ओ, ओ के उच्चारण से अ में उ अपने आप मिल गया है ,और 'ओ' को बोलने पर ओठ बन्द किया तो अपने आप 'म्' बनगया । अब 'ओ' और 'म्' को मिलाया तो 'ओम्' बनगया । ओम् एक लम्बे स्वाँस में जो स्वयँ प्रकाश शान्त आनन्द झलकता है वह अमात्र स्वरूप ब्रह्म है । उस अमात्र को बोलने की आवश्यकता नहीं है । उसका तो ओम् के अन्त में ध्यान करते हुए सो 'मैं हूँ', यह भावना करनी है । यह हुआ ओम का उच्चारण करते हुए ब्रह्म का अहंग्रह ध्यान अन्त में ''सो मैं हूँ'' यह बोलने की भी आवश्यकता नहीं, वह भाव तो समझने हेतु है । केवल श्वाँस को अन्दर धीरे-धीरे खींचकर शान्त हो जाना चाहिये । श्वाँस अन्दर खींचते और छोड़ने की सहज क्रिया में चल रहे अजपा जाप पर वृत्ति रखनी चाहिये । जब स्वाँस अन्दर खिचता है तब 'सो', ऐसा शब्द होता है । और श्वाँस छोड़ते हैं उस समय 'हम्' ऐसा शब्द होता है । दोनों को मिलाकर 'सोऽहम्' अर्थात् वह शुद्ध ब्रह्म मैं हूँ । इस प्रकार ओम मुख से लम्बा उच्चारण करके कहा जाये और सोऽहम् को श्वाँस से सुनकर शांत होकर बैठ जाय । यदि शान्ति बनी रहे तो उसमें अपनी वृत्ति डुबादें । फिर कुछ भी न बोलें । यदि मन में संकल्प विकल्प पुनः पैदा हो तो, दीर्घ प्रणव का उच्चारण करते हुए शान्त हो जावें एवं श्वाँस-प्रश्वाँस में सोऽहम् का अनुभव करें अन्यथा शान्त रहें ।

इस प्रकार निगुर्ण ब्रह्म का ओम् का उच्चारण करके अहंग्रह ध्यान करने से उस मुमुक्षु को इसी जन्म में अथवा अगले जन्म में आत्म ज्ञानाधिकारी बन मोक्ष पद प्राप्ति कर लेगा ।

अहंग्रह उपासना द्वारा जीव को ज्ञान में प्रवेश करने का अधिकारी बनाना ही मुख्य कर्तव्य है । ब्रह्म प्राप्ति तो ज्ञान से ही होगी । अर्थात् निरन्तर श्वाँस-प्रश्वाँस में अहंग्रह-ध्यान करने वाले का इस जन्म में अथवा अगले जन्म में प्रति बन्धक

प्रारब्ध रहा तो अधिक से अधिक तीसरे जन्म में मोक्ष पा लेगा इसमें सन्देह नहीं ।

मुमुक्षु तीन प्रकार के होते हैं । (१) भोगों की मन में सूक्ष्म कामना वाले धनवान कूल में जाते हैं । (२) वैराग्यवान् ज्ञानी कुल में तथा (३) ब्रह्म लोक की वासना वाले ब्रह्म लोक जाकर सुख भोगकर फिर अपने प्रवृत्ति अनुसार मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण कर ज्ञान में प्रवृत्त मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं । मोक्ष तो ज्ञान से ही होता है ।

FFF

माण्डुक्योपनिषद

भेद दर्शी कृपण है

उपासनाश्रितो धर्मो जाते बह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कपणः स्मृतः ।।१।।

- माण्डू. अद्वैत प्रकरण

उपासनाश्रित : उपासना को अपने मोक्ष के साधन रूप से मानने वाला पुरुष अर्थात् 'मैं उपासक हूँ' और 'ब्रह्म मेरा उपास्य है ।' उसकी उपासना, भजन, जप, तप, साधन, योग, समाधि आदि द्वारा उसको मैं प्राप्तकर 'सुखी होउँगा' मोक्ष को प्राप्त होउँगा' इस प्रकार विचार वाला साधक क्षुद्र ब्रह्मजिज्ञासु जीव है वह सदा अजन्मा ब्रह्म का दर्शन करने वाले महात्माओं द्वारा कृपण-दीन अर्थात् क्षुद्र माना गया है । जो वाणी से प्रकट नहीं होता बल्कि जिससे वाणी प्रकट होती है वही ब्रह्म है । ऐसा निश्चय करो जिसकी तुम उपसना करते हो वह ब्रह्म नहीं है ।

यद्वाचानभ्युदितं येन बागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।

- केन. उ. १/४

जो लोग उपर्युक्त प्राप्त परमार्थ तत्त्व को अपना ही स्वरूप निश्चय किये हुए है वे ही धन्य हैं उनके अतिरिक्त तो सभी भेदबादी भेदोपासक कृपण ही है ।

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा ।
भेदनिन्माः प्रथग्बादास्तस्मात्ते कृपणः स्मृताः ।१४

- माण्डु. अलातशान्ति प्रकरण

जो लोग सदा भेद उपासना मैं ही लगे रहते हैं । निश्चय ही उनकी विशुद्धि नहीं होती । वे संसार के ही अनुगामी हैं । इसलिये उनको कृपण कहा है । कृपण अर्थात् कंजूस कहतें है । जैसे बनिये (वणिक, वैश्य) के पास धन की बहुतायत होते हुए भी वह दरिद्र बना रहता है और दुःख पाता रहता है । किन्तु प्राप्त धन का सदुपयोग नहीं करता । उसी प्रकार वे लोग भी शास्त्र द्रष्टि से कृपण ही है जो आत्म प्रभु के सर्वत्र भीतर-बाहार ओत-प्रोत है उनको जीव न जानकर आनन्द हेतु बाहर भटकता सदा दुःख पाता हुआ अपने प्राणों को मृग कस्तुरी की तरह तड़फ-तड़फ कर त्याग देता है ।

FFF

ऐतरेयोपनिषद्

ऋग्वेदीय ऐतरेय दूसरे आरण्यक में से , २, ५, ६ अध्याय

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । १

यह जगत् प्रकट होने से पूर्व एक मात्र परमात्मा ही था उसके सिवा दूसरा कोई भी चेष्टा करने वाला नहीं था उस परम पुरुष परमात्मा ने यह निश्चय किया कि पूर्व सृष्टि के जीवों के संचित् कर्मों के भोगार्थ मैं लोकों की रचना करूँ इस प्रकार विचार किया एवं हिरण्यगर्भ पुरुष को उत्पन्न किया ।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत् इदमदर्शमिती । - १-३-१३

परमात्मा (इस प्रकार मनुष्य शरीर की रचना करके) इस मनुष्य शरीर की सीमा (मुर्धा) अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र को चीरकर और स्वयं भी उसी में प्रवेश हो गये, फिर मनुष्य रूप में उत्फन्न हुए जीव ने इस भौतिक जगत् की विचित्र रचना को उसने

चारों ओर से देखा और मन ही मन सोचने लगा यहाँ दूसरा कौन व्यक्ति जिसने यह जगत् रचना की है । क्योंकि बिना कारण के कार्य रचना नहीं होती है इस प्रकार उस साधक ने इस अर्न्तयामी विराजमान पुरुष को ही इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त परब्रह्म के रूप में प्रत्यक्ष किया । तब वह आनंद से भरकर मन ही मन कहने लगा - अहो ! बड़े ही सौभाग्य की बात है कि मैने परब्रह्म परमात्मा को देख लिया - साक्षात् कर लिया ।

''प्रज्ञानं ब्रह्म'' - ३/३

इस शरीर में स्थित यह प्रज्ञान स्वरूप आत्मा ही ब्रह्म है ।

FFF

तैत्तिरीयोपनिषद्

कृष्णयुजर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा से
आरण्यक के ७, ८ व ९ अध्याय

ब्रह्मानन्द वल्ली

प्रथम अनुवाक

सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे ।
व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।

ब्रह्म सत्य स्वरूप है अर्थात् नित्यसत् है किसी भी काल में उनका अभाव नहीं होता । तथा वे ज्ञानस्वरूप है । वे ब्रह्म परम विशुद्ध आकार में रहते हुए भी सबके हृदय की गुफा में छिपे हुए है । उन परब्रह्म परमात्मा को जो साधक तत्त्व से अर्थात् आत्मरूप से जान लेता है, वह भली भाँति सबको जानने वाले उन ब्रह्म-केसाथ रहता हुआ सब प्रकार के भोगों का अनुभव करता है ।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्युक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ।।

- ईशा उप-१

अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़ चेतन रूप जगत् है, यह समस्त ईश्वर से ओत-प्रोत है । अतः उस ईश्वर को प्रत्येक कर्मों में निरन्तर साथ-रखते हुए त्याग पूर्वक इस जगत् के आवश्यक भोगों का जीवन रक्षार्थ उपभोग करते रहें । किन्तु उसमें मन को उन विषयों में आसक्त मत करो । ये भोग्य पदार्थ किसी के भी नहीं है । मनुष्य अज्ञानता से उन्हें अपना मान ममता और आसक्ति के बन्धन में जकड़ा हुआ जन्म-मरण का दुःख भोगा करता है । अगर वही भोग अनासक्त भाव से जीव भोगते हुए आत्मज्ञान प्राप्तकर शरीर त्याग करे तो उसे पुनः जन्म लेना ही न पड़े ।

ब्रह्मानन्द वल्ली

चतुर्थ अनुवाक्

यतो वाचा निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणों विद्वान् न बिभेति कदाचनेति ।

जहाँ मन के सहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती है । उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला कभी भी भय नहीं करता ।

सप्तम अनुवाक्

यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः । रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्योवान्यत्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति ।

निश्चय ही जो वह 'सुकृत' है वही रस है । क्योंकि यह जीवात्मा इस सुकृत रस रूप परमात्मा को ही प्राप्तकर आनन्दयुक्त होता है । अगर वह आकाश की तरह व्यापक परमात्मा आनन्दरूप न होता तो उसके बिना कौन जीवित रह सकता है और कौन प्राणों को लेने छोड़ने की निरन्तर क्रिया कर सकता था और कौन भूख-प्यास लगा अन्न को ग्रहण कर सकता था फिर - कौन अन्न से रस, रस से रक्त बना पूरे शरीर में पहुँचाता एवं निरन्तर श्वाँस-प्रश्वाँस क्रिया को करपाता ? एवं शरीर की आन्तरिक समस्त क्रिया कर जीवित रहपाता ? यही सबको वश में रखकर सूर्य-चन्द्र, वर्षा शीत, गर्मी, पृथ्वी आदि को नियन्त्रण में रखकर अन्न, फल,

औषध आदि को उत्पन्नकर सबको आनन्द प्रदान करता है ।

षष्ठ अनुवाक

सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपो ऽ तप्यत ततसृष्टा तदेवानु प्राविशत् ।

उस परमेश्वर ने विचार किया कि मैं प्रकट होउँ । बहुत नाम रूपों वाला हो जाउँ । इसके लिये उसने तप किया (संकल्प का विस्तार किया) समस्त जगत् की रचना की एवं उस जगत् की रचना करने के अनन्तर वह स्वयं उसी में साथ-साथ प्रविष्ट होगया ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म ,' 'नेह नानास्ति किञ्चन'

'मृत्योः स मृत्यु माप्नोति य इह नानेव पश्यति'

'एको देव: सर्व भूतेषु गुढ़ः'' द्वितीया द्वै भयं भवति'

सर्वत्र द्वैत ही भय एवं जन्म मरण कारण है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इस प्रकार कहा है : -

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तादात्मा न मेवावते । अहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत द एव तद भवत् .. त दिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदँ सर्वं भवति तस्य ह न देबाश्च्य नाभूत्या ईशते ।

- १-४-१०

पहले यह ब्रह्म ही था । उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ । अतः वह सर्व हो गया । उसे देवो में से जिसने जाना वह तद्रुप हो गया । उसी प्रकार इस ब्रह्म को इस समय भी जो सद्गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान से इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो वह भी सर्व हो, ब्रह्म हो जाता है ।

'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति'

'शान्तं विशमद्वैतम्' 'तत्त्व हो जाताहै । तैतिरीय. उप.

यही बात महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से भी कहा :-

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति । तदितर इतरँ श्रुणोतितदितर इतरमभिवदति । इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति । यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवा भूत्तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कं पश्येत तत्केन कं श्रूणुयातत्केन कम्भिवदेतरकेन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात् । येनेदँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात विज्ञातरमरे केन विजानीयादिति।

- २-४-१४ बृहदारण्यक

है मैत्रेयी ! जहाँ अविद्यावस्था में द्वैत सा होता है वही अन्य अन्य को सूँघताहै; अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता हैं तथा अन्य अन्य को जानता है, अन्य अन्य को मनन करता है, अन्य अन्य को अभिबादन करता है । किन्तु जहाँ उसके लिये सब आत्मा ही हो होगया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिबादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे, और किसके द्वारा किसे जाने । है मैत्रेयी ! जो सबको जानने वाला है उस विज्ञाता को किस के द्वारा जाने ?

जहाँ अद्वैत बाद के समर्थन में मन्त्र है वहाँ द्वैत बादी अपने द्रष्टिकोण से अद्वैत का खण्डन तथा द्वैत का प्रतिपादन करने हेतु कठोपनिषद् का यह मंत्र देतें हैं ।

(१) **ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहा प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।**
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चग्नयो ये च त्रिणाचिकेता ।

इस शरीर में जीवात्मा परमात्मा नामके दो मित्र सदा साथ साथ रहते हैं उन में जीवात्मा अपने कर्म का फल भोग करता है । और दूसरा परमात्मा इस जीवात्मा को देखता रहता है । दोनों ही हृदयाकाश बुद्धि में प्रविष्ट है । इनमें एक जीवात्मा संसारी है, दूसरा परमात्मा असंसारी है । इसलिये ब्रह्मज्ञाता और गृहस्थ इन दोनों को छाया और आतप (धुप) के समान विलक्षण कहते हैं ।

(२) **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते ।**
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीत ।।

- मुण्डक. ३.१.१

अर्थात् सहचर और सखा दो पक्षी एक वृक्ष का आश्रय करके रहते हैं इनमें से एक नानाविध फल का भक्षण करता है और दूसरा कुछ नहीं खाता, केवल देखता है ।

अवश्य ही ऊपर से देखने-सुनसे में द्वैत सा प्रतीत होता है, परन्तु जरा गहराई में उतरकर विचार करने से ज्ञात होता है कि उन मन्त्रों में न तो द्वैतबाद का समर्थन ही है । और न अद्वैतबाद का खण्डन ही है । क्यों और कैसे ? यह नीचे की विचारधारा से निर्णय करेगें ।

अद्वैतबादी भी द्वैत-प्रपञ्चका सर्वांशितः अपलाप नहीं करते । वे भी शास्त्र मानते हैं, गुरु-शिष्य रूप से आत्म विद्या की प्राप्ति का विज्ञान है ।

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारतः

- गीता १८/६२

अर्थात् तु अपने कल्याणार्थ सब प्रकार से उस परमात्मा की शरण में जा ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनंस्तत्त्वदर्शिनः ॥

- गीता : ४-३४

अर्थात् उस ज्ञान को पाने के लिये तू किसी सद्‌गुरु की शरण में समर्पित हो जा ।

'तस्माद्योगी भावार्जुन' - गीता ६/४६

इस प्रकार अद्वैतबादी भी उपास्य उपासक रूप से जीव-ब्रह्म का औपाधिक भेद स्वीकार करते हैं । और आत्म साक्षात्कार के लिये योगमार्ग का आश्रय ग्रहण करते हैं । वे केवल द्वैत प्रपञ्च की सत्यता और पारमार्थिकता को स्वीकार नहीं करते । वे कहते हैं कि यह द्वैत प्रपञ्च व्यावहारिक और माया मय है । किन्तु स्वप्न की तरह अथवा बन्धया स्त्री के पुत्र की तरह अथवा आकाश कुसुम की तरह मिथ्या भी नहीं है । अतः अद्वैत ही पारमार्थिक सत्य है । इसलिये अद्वैत वादियों के मत से भी

उपनिषद् में द्वैत प्रपञ्च का उल्लेख हो सकात है । किन्तु द्वैत प्रपञ्च सत्य है । ऐसा किसी भी उपनिषद् का अभिप्राय नहीं है ।

कठोपनिषद् में नचिकेता के पुछने पर यमराज ने भी ब्रह्म सत्ता की अखण्डता को ही प्रदिपादन किया है ।

जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप परमात्मा से भिन्न नहीं है । जीवात्मा और परमात्मा एक एवं अभिन्न ही है । केवल उपाधि भेद से, घटाकाश, मठाकाश, महाकाश आदि की तरह दोनों का भेद मालूम होता है । जीवात्मा संसारीपन अविद्या कृत है । अविद्या के अभाव के कारण परमात्मा में संसारीपन नहीं है । और इसी एकता के कारण यमराज ने नचिकेता द्वारा जीवात्मा के प्रश्न पूछने पर भी उसे अद्वय परमात्म विषयक उत्तर दिया । अतः तत्त्वतः जीवात्मा एवं परमात्मा की पारमार्थिक सत्ता में कोई भेद नहीं दोनों एक ही है । दो भी नहीं । यह द्वैत वचन तो अज्ञानियों को समझाने हेतु कहा है । बल्कि वह स्वयं अकेला ही है । वह बहुतसा हो गया है, अन्य कुछ नहीं है । न हुआ, न होगा, जो था, जो है, वही आगे भी रहेगा । वह बस स्वयं अकेला ही है । गीता २/४६ में इसी का महत्व बताया गया है ।

अष्टम अनुवाक

उस आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का वह आनन्द कितना है कैसा है ? उस आनन्द को कल्पना के द्वारा बताया गया है ।

संसार का सबसे बड़ा सुख क्या है ? कि कोई युवा हो श्रेष्ठ आचरण वाला हो, वेदों का अध्ययन कर चुका हो, शासन में अत्यन्त कुशल हो, उसके सम्पूर्ण अंग और इन्द्रियाँ दृढ़ हो, वह सब प्रकार से बलवान हो । संसार की समस्त कामनाओं से पूर्ण हो, धन, रूप से परिपूर्ण हो पूर्ण पृथ्वी का सम्राट हो तब ऐसे व्यक्ति को मनुष्य लोक का एक महान् आनन्द कहा जाता है । वह आत्मज्ञानी ब्रह्मवेत्ता का स्वाभाविक आनन्द होता है ।

ते ये शतं मनुषा आनन्दाः । स एको मनुष्य गन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । श्रोत्रियस्य चाकामहातस्य ।

ऐसे सौ आनन्द मिलकर एक 'मनुष्य गन्धर्व' का सुख कहलाता है । वह वेदज्ञों को भी स्वभावतः प्राप्तः है ।

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वणामानन्दाः । स एको देवगन्धर्वणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ऐसे सौ मनुष्य गन्धर्वों के सुखराशि को जोड़ा जाय तो वह एक 'देवगन्धर्व के आनन्दं के बराबर होता है । जो वेद के उपदेशको हृदय'म करचुका है । ऐसे विद्वान् को वह आनन्द स्वभावतः प्राप्त है ।

ते ये शतं देवगन्धर्वाणामनन्दाः स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ऐसे सौ देव गन्धर्व का सुख मिलकर एक पितृ लोकमें रहने वाले दिव्य पितरों का एक आनन्द है । वह उस वेद के अर्थ को जानने वाले श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ को स्वतः प्राप्त हो ता है ।

ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामनन्दाः । स एक आजानजाना देवानामन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ऐसे पितृ लोक के सौ पुरुषों का आनन्द मिलकर एक आजानज नामक देवता का आनन्द होता है । वह कामना रहित श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ को स्वभावतः प्राप्त है ।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवाना देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ऐसे सौ आजानज देव पुरुषों का आनन्दं मिलकर एक कर्म देव नामक देवता के सुख के बराबर होता है । वह कामना रहित आत्मज्ञानी वेदज्ञ को स्वतः प्राप्त है ।

तेये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामीनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ऐसे सौ कर्म देव नामक देवताओं का आनन्द मिलकर एक देवताओं के

आनंद के बराबर होता है ।

तेये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ऐसे १०० देवानाम् देवताओं का आनन्द मिलकर एक इन्द्र के आनन्द के बराबर होता है । जे कि आत्मनिष्ठ वेदज्ञ को स्वभाविक प्राप्त होता है ।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको ब्रह्मस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ऐसे सौ इन्द्रों का आनन्द मिलकर एक ब्रहस्पति के आनन्द के बराबर होता है । जो ज्ञान योगियों को स्वतः प्राप्त होता है ।

ते ये शतं ब्रह्मस्पतेरानन्दाः । स एक प्रजापते रानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ऐसे सौ ब्रहस्पति का आनन्द मिलकर एक प्रजापति के आनन्द के बराबर होता है । जो वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी महात्मा को स्वतः प्राप्त है ।

ते ये शंत प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ऐसे सौ प्रजापति का आनन्द है । वह ब्रह्मा का एक आनन्द है और ब्रह्म लोकतक के भोगों की कामना से रहित ज्ञानी को वह आनन्द स्वभावतः प्राप्त है ।

यावानर्थ उद पाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

- गीता - २/४६

वेदों में कहे सभी फल ब्रह्मनिष्ठावान को बिना प्रयास ही मिल जाते हैं, उसे उसके लिये चेष्टा करने की जरूरत नहीं होती है ।

भाव यह है कि इस जगत् से लेकर बड़-बड़े ब्रह्मलोक पर्यन्तके सुख जो भी देखने, सुनने, समझने व अनुभव में आते हैं, वह सब चाहे जितने बड़े क्यों न हो । उस पूर्णानन्द स्वरूप परमात्मा के आनन्द की तुलना में बहुत ही तुच्छ हैं ।

जो यह मनुष्य और सूर्य में है वह सबका अन्तर्यामी एक ही है । जो इस प्रकार जानने वाला है, वह शरीरभाव त्याग कर परमात्मा को प्राप्त होता है । फिर उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता है ।

नवम अनुवाक

एतँह वाव न तपति । किमहँ साधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति । स य एवं विद्वानेते आत्मानँ स्पृणुते । उभे ह्वेवैष एते आत्मानँ स्पृणुते । य एवं वेद । इत्युपनिषत् ।

यह प्रसिद्ध ही है कि उस महापुरुष को यह बात चिन्तित नहीं करती है कि मैंने श्रेष्ट कर्म नहीं किया अथवा क्यों मैंने पापाचरण किया, क्योंकि उसके मन पुण्यफल से प्राप्त स्वर्गादि सुख के लिये लोभ नहीं रहता तथा पाप कर्म के फलरूप नरकादि के दुःखों का भय नहीं रहता । तथा जो इन पुण्य और पाप दोनों ही कर्मों को इस प्रकार संताप का हेतु जानता है वह यह पुरुष आत्मा की रक्षा करता है अर्थात् अपने को अधोगती में जाने से बचालेता है ।

भृगुवल्ली

वरुण पुत्र भृगु ऋषि को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था इसीलिये इसका नाम भृगुवल्ली है ।

प्रथम अनुवाक

एक समय भृगु के मन में परमात्मा को प्राप्त करने की जिज्ञास हुई, तब वे अपने पिता जो वेदज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ भी थे उनसे प्रार्थना की - 'भगवन' ! मैं ब्रह्मको जानना चाहता हूँ अतः आप कृपा करके मुझे ब्रह्म का तत्त्व समझाईये । तब वरुण ने अपने पुत्र भृगु से कहा 'तात ! अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी ये सभी ब्रह्म की उपलब्धी के ही द्वार है इन सब में ब्रह्म की सत्ता स्फूरित हो रही है । तू तप के द्वारा ब्रह्म को समझने की कोशिश कर । तप ही ब्रह्म का स्वरूप है अर्थात् ज्ञान रूप तप को ही ब्रह्म जाना जा सकता है । इसके अतिरिक्त ब्रह्म को जानने का कोई अन्य मार्ग नहीं है । साथ ही यह भी कहा कि -

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।

यत्प्रयन्त्यभिसं विशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ।।

- ३/१/१

जिससे समस्त चर-अचर, जड़-चेतन उत्पन्न होते हैं उत्पन्न होकर जिनके सह योग से जिनका बल पाकर येजीते हैं । व जीवनोपयोगी क्रिया करते हैं, महाप्रलय के समय जिनमें यह सब चराचर प्राणी विलीन हो, जाते हैं उनको जानने की वास्तव में तू चिन्ता कर । 'वे ही ब्रह्म हैं'

द्वितीय अनुवाक

भृगु ने पिता के उपदेशानुसार ब्रह्मचर्य और शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा द्वारा विचार किया यही उनका ज्ञानमय तप था । तप द्वारा यही निश्चय किया कि सर्व प्रथम अन्न ही ब्रह्म है । एवं अन्न में उपरोक्त सभी बाते पाईजाती हैं । अन्न से ही समस्त उत्पन्न होते हैं । उसी की शक्ति से सब कार्य करते हैं, अतः यही ब्रह्म है । व पिता को जाकर अपना निश्चय सुनाया पर पिता ने कोई उत्तर नहीं दिया । वरूण ने सोचा भृगु ने अभी ब्रह्म के स्थूल रूप को ही समझा है । वास्तविक रूप तक इस की बुद्धि नहीं गयी । अतः इसे तपस्या करके अभी और विचार करने की आवश्यकता है पर जो कुछ इसने समझा है उसमें इसकी तुच्छ बुद्धि कराकर अश्रद्धा उत्पन्न करा देने में भी इसका हित नहीं है । अतः इस की बात का उत्तर नहीं देना ही ठीक है । पिता से अपनी बात का भृगु को कोई उत्तर नहीं मिला तब उसने फिर कहा भगवन् ! यदि मैं ठीक नहीं समझा तो आप मुझे ब्रह्म का तत्त्व समझाइये । तब वरुण ने कहा — तुम विचार रूप तप के द्वारा ब्रह्म के तत्त्व को समझने की कोशिश करो यह तप ब्रह्म का ही स्वरूप है ।

तृतीय अनुवाक

भृगु ने अबकी बार पिता के उपदेशानुसार अत्यधिक विचारूप तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए निश्चय किया कि नहीं अन्न की अपेक्षा प्राण ही ब्रह्म है । क्योंकि प्राण से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं । उसकी शक्ति से समस्त कर्म करते हैं, जीते हैं और मरने के बाद प्राण में ही प्रविष्ट हो जाते हैं । अतः प्राण ही ब्रह्म है । जब पिता को जाकर अपना निश्चय सुनाया तो पूर्व की तरह पिता से कोई उत्तर प्राप्त न होता देख भृगु ने पुनः वही प्रार्थना की भगवन् ! मैंने यदि ठीक न समझा हो

तो कृपा करके आप ही ब्रह्म तत्त्व समझावें । तब वरुण ने पुनः वही उत्तर दिया 'तू विचार रूप तप के द्वारा ही ब्रह्म को तत्त्व से जानने की कोशिश कर , यह तप रूप साधन ही ब्रह्म है'

चतुर्थ अनुवाक

भृगुने पिता के उपदेशानुसार पुनः आकर तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए तत्त्व विचार किया एवं अब अन्न व प्राण की अपेक्षा मन को ही समस्त जगत् उत्पति, स्थिति तथा लय का कारण जान, मन ही को ब्रह्म समझा व पिता के समक्ष अपना निश्चय कहा । पिता से पूर्व की तरह कोई उत्तर प्राप्त न होते देख, भृगु ने पुनः पूर्व की तरह प्रार्थना की 'भगवन्' ! यदि में ठीक नहीं समझा तो कृपा करके आप उस ब्रह्म तत्त्व को समझावें । वरुण ने मन ही मन सोचा कि पहले की अपेक्षा अब यह गहराई में उतर रहा है, परन्तु अभी और तप करने को कहना ही ठीक है । एवं ऐसा ही कहा कि उस ब्रह्म को विचार रूप तप से ही जानने की इच्छा करो ।

पञ्चम अनुवाक

भृगु पिता के वचन पर विश्वास कर तपोमय जीवन और भी अधिक ध्यान से विवेक-विचार करते हुए तत्व चिन्तन परायण बना एवं अब कि बार उसने अन्न, प्राण व मन की अपेक्षा विज्ञान को ही ब्रह्म समझा क्योंकि विज्ञान से ही समस्त प्राणी की उत्पत्ति होती है तथा विज्ञान द्वारा ही जीते हैं । अन्त में विज्ञान में ही प्रविष्ट हो जाते हैं । अतः विज्ञान ही ब्रह्म है । और अपना निश्चय पिता को जाकर बताया किन्तु पिता ने इस बार भी पूर्ववत् कोई उत्तर नहीं दिया । तब भृगु ने पुनः प्रार्थना की - भगवन ! यदि मैं ठीक् से नहीं समझा तो कृपा करके आप उस ब्रह्म तत्त्व को मुझे समझावें । पिता ने सोचा इस बार यह बहुत कुछ ब्रह्म के निकट हो गया है इसका विचार स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के जड़तत्त्वो से ऊपर उठकर चेतन जीवात्मा तक तो पहुँच गया है । परन्तु ब्रह्म का स्वरूप तो इससे विलक्षण है । यह जीव तो ८४ लाख योनियों का भ्रमण कर सुख-दुःख बन्धन को प्राप्त होता है किन्तु परमात्मा तो अचल एवं नित्य आनन्द स्वरूप एक अद्वितीय परमात्मा है । उन तक पहुँचने हेतु इसे अभी और ज्ञानरूप तपस्या करने की आवश्यकता है । और ऐसा ही भृगु को उत्तर दिया ।

षष्ठअनुवाक

पिता की आज्ञा पाकर भृगु ने और अत्यधिक तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए सूक्ष्मता से तत्त्व चिन्तन करते हुए यह निश्चय किया कि अन्न, प्राण, मन, तथा विज्ञान की अपेक्षा आनन्द ही ब्रह्म है । ये आनन्द मय परमात्मा ही अन्न, प्राण, मन, बुद्धि आदि सबके अन्तरात्मा है । वे सब इन्ही के स्थूल रूप है । इसी कारण उनमें ब्रह्म बुद्धि होती है और ब्रह्म के आंशिक लक्षण पाये जाते हैं । परन्तु सर्वांश से ब्रह्म के लक्षण आनन्द में ही घटते हैं, क्योंकि ये समस्त प्राणी उन आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा से ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न होते हैं । इन सब के आदि कारण तो वे ही हैं । तथा इन आनन्द मय के आनन्द का लेश पाकर ही ये सब प्राणी जी रहे हैं । कोई भी दुःख के साथ जीना नहीं चाहता । और समस्त चेष्टाएं सभी प्राणी उस अचिन्त्य शक्ति की प्रेरणा से ही करते हैं । सूर्य उनके शासन में न रह कर कार्य न करे तो समस्त प्राणी जीवन लाभ नहीं कर सकते । सबके जीवनाधार सचमुच वे आनन्द स्वरूप परमात्मा ही है । तथा प्रलय काल में समस्त प्राणी उसी में प्रविष्ट होते हैं । और वह आनन्द ब्रह्म 'मैं हूँ' । ऐसा अनुभव हो जाने से वे पुनः अपने पिता वरुण के पास पुछने नहीं गये । इस प्रकार अनुभव होते ही भृगु को परब्रह्म का यथार्थ ज्ञान हो गया । फिर उन्हें किसी प्रकार की जिज्ञासा नहीं रही ।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।

जो कोई मनुष्य (साधक) भी इस प्रकार आनन्द स्वरूप ब्रह्म को जानता है । जानने का प्रयत्न करता है । वह उस विशुद्ध आकाश स्वरूप परमानन्द में स्थित हो जाता है । ब्रह्म तेज से समपन्न होकर । उत्तम कीर्ति के द्वारा वह महान् हो जाता है ।

FFF

श्वेताश्वतरोउपनिषद्

समस्त चराचर जगत् के मूल कारण एक मात्र सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही

हैं, दूसरा कोई नहीं है । जड़ तो स्वयं चेतन के आधीन है, वह तो स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता । जिन जड़ वस्तुओं के मिश्रण से कोई नयी वस्तु बनाई जाती है, वह उसके संचालक चेतन आत्मा के आधीन और उसी के भोगार्थ होती है । जीवात्मा भी जगत् का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वह सुख-दुःख के हेतु भूत प्रारब्ध के आधीन है । वह भी स्वतन्त्र रूप से कुछ नहीं कर सकता । अतः इन सबसे भिन्न ही परमात्मा को जानना चाहिये । १-३

सर्वा जीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।।६।।

- १-१-६

पूर्व जन्मों के संचित् शुभाशुभ कर्मों के भोगार्थ जगत् रूप चक्र में यह जीवात्मा अपने कर्मानुसार घुमाया जाता है । जबतक यह अपने आप को देह, प्राण, मनादि से पृथक् भली प्रकार नहीं जान लेता । यहजीव संसार चक्र से तबतक नहीं छूट सकता जबतक यह परमेश्वर की कृपा एवं अपने को उनका प्रियपात्र नहीं बना लेता है । जब यह उनकी शरण स्वीकार कर लेता है और परमेश्वर के द्वारा स्वीकृत हो जाने पर फिर यह अमृत भाव को प्राप्त हो जाता है तथा जन्म-मरण रूप संसार चक्र से सदा के लिये छूटकर परमधाम, परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विदन्ते ब्रह्ममेतत् ।।९।।

ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान है, ये दोनों ही अजन्मा हैं । उनके सिवा एक तीसरी शक्ति भी अजन्मा है, जिसे प्रकृति कहते हैं । यह भोक्ता जीवात्मा के लिये भोग-सामग्री प्रस्तुत करती है । यद्यपि यह तीनों ही विलक्षण है, क्योंकि वे परमात्मा अनन्त सम्पूर्ण; रूपों वाला और अकर्त्ता है । (अभिमान रहित होने से) जब मनुष्य अपने सहित ईश्वर और प्रकृति - इन तीनों को ब्रह्म रूप में जान लेता है, तब वह सब प्रकार के बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावा भ्दूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ।

- १-१०

प्रकृति जो जड़ तथा विनाशशील है इसको भोगने वाला जीवात्मा अमृत स्वरूप अविनाशी है । इन विनाशशील जड़ तत्त्व और चेतन आत्मा दोनों का एक ईश्वर शासन करते हैं, वे ही जानने योग्य और प्राप्त करने योग्य हैं । उन्हें तत्त्वसे अर्थात् सोऽहम् रूप से ध्यान करने से, मन को उसमें लगाये रहने से तथा तन्मय हो जाने से, अन्त में उसी की प्राप्ति होती है । फिर समस्त माया जगत् से उसकी निवृत्ति हो जाती है । (गीता १५/१६-१७ में क्षर, अक्षर तथा क्षराक्षरातीत) (गीता ६/८ अन्त मति सो गती)

ज्ञात्वा देव सर्वपाशापहानिः क्षीणेः क्लेशैर्जन्म मृत्यु प्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेद विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकालः ॥११॥

परम पुरुष परमात्मा का साधक सोऽहम् रूप से निरन्तर ध्यान कर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जब आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, तब इस जीव के समस्त संचित् कर्म नष्ट होकर यह समस्त बन्धनों से सदा के लिये मुक्त हो जाता है । देहभाव, कर्ताभाव, राग-द्वेष, अहंकार, इन पाँचों क्लेशों का नाश हो जाने के कारण जीव के जन्म-मरण का भय सदा के लिये समाप्त हो जाता है । फिर कभी वह पुनः देहभाव को प्राप्त नहीं होता है । वह इस शरीर के सुख से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त के सुखों एवें ऐश्वर्य को दुःख रूप जान मनसे इनका त्यागकर परमानन्द पद को प्राप्तकर लेता है ।

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्य हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥

- १-१२

अपने ही हृदय में अन्तर्यामि रूप से स्थित उस ब्रह्म को ही सर्वदा जानना चाहिये । क्योंकि इससे बढ़कर जानने योग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है । अतः इनको जानने के लिये कही बाहर जाने की एवं अन्य चित्र, मूर्ति पूजने की जरूरत नहीं है । इन एक को जानने से सबका ज्ञान हो जाता है । भोक्ता जीवात्मा, भोग्य जड़वर्ग और उनके प्रेरक परमेश्वर इन तीनों को जानकर मनुष्य सब कुछ जानलेता है । ये तीनों ब्रह्म के ही रूप है कुछ भेद नहीं है । केवल कार्य कारण भाव से ही द्वैत-

सा प्रतीत होता है । यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किंचित् भी नहीं है ।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लि‘नाशः ।
स भूय एवन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ १३॥

जिस प्रकार आश्रयभूत काष्ठमें स्थित अग्नि का रूप नहीं दीखता और लि‘ (चिह्न) का नाश भी नहीं होता, अर्थात् काष्ठ में अग्नि नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि अग्नि की सत्ता मानकर घर्षण रूप बहु चेष्टा करने पर अवश्य ही काष्ठ में से वह ग्रहण हो सकती है । उसी प्रकार उपर्युक्त जीवात्मा, और परमात्मा हृदय रूप अपने गुहा स्थान में छिपे रहकर प्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ते । परन्तु ॐ के जप अर्थात् सोऽहम् ध्यान द्वारा साधन करने पर इस शरीर में ही इनका साक्षात्कार किया जा सकता है । - इस में कुछ सन्देह नहीं है । (गुरुगम्य)

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढ़वत् ॥ १४

अपने शरीर को नीचे की अरणि की तरह स्थिर बनावें तथा प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर 'सोऽहम्' ध्यान के द्वारा निरन्तर स्वाँस-प्रस्वाँस रूपी मन्थन करते रहने से साधक छिपी हुई अग्नि की भाँति अपने हृदय में स्थित परम देव का साक्षात्कार कर सकता है - इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।

नवद्वारे पुरे देही हँ सो लेलायते बाहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

- १-३-१८

सम्पूर्ण स्थावर और ज‘म जगत् को वश में रखने वाला वह प्रकाशमान परमेश्वर दो आंख, दो कान, दो नासिका, एक मुहँ, एक लिंग तथा एक मलद्वार रूप इस नव द्वार वाले शरीर रूपी नगर में अन्तर्यामी रूप से हृदय में स्थित देही तथा वही बाह्य जगत् में भी प्रकृति का रूप धारणकर लीला करता है।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥

अध्याय- १-१५

जैसे तिलों में तेल, दही अथवा दुध में घृत्, सोतों में जल (आप) और अरणियों में अग्नि छिपे रहते हैं। उसी प्रकार वह परमात्मा अपने हृदय में छिपा हुआ है। जैसे मन्थन क्रिया से उपरोक्त पदार्थों मे से उनका सत्व निकाला जाता है। उसी प्रकार ज्ञानी साधक अपने ही शरीर में छिपे हुए परमात्मा को ज्ञान रूप विचार मन्थन द्वारा निरन्तर अभ्यास से साक्षात्कार कर लेता है।

सर्वव्यापिनमात्मनं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्म विद्या तपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ।। १६।

आत्मविद्या और तप जिनकी प्राप्ति के मूलभूत साधन हैं, तथा जो दूध में स्थित घीं की भाँति सर्वत्र परिपूर्ण हैं उन सर्वान्तर्यामी परमात्मा को वह पूर्वोक्त साधक जान लेता है। वे ही उपनिषद्रों में वर्णित् परम तत्त्व ब्रह्म हैं।

तृतीय अध्याय

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।८।।

अविद्या रूप अन्धकार से अतीत तथा सूर्य की भांति स्वयंप्रकाश रूप इस हृदय स्थित साक्षी पुरुष को ज्ञानी पुरुष मैं रूप से जानते हैं। कोई भी साधक उस परमात्मा को सोऽहम् रूप से जानकर ही इस जन्म-मृत्यु बन्धन से सदा के लिये छुटकारा पाने में समर्थ होता है। इस परमपद निर्वाण को पाने के लिये अन्य कोई स्वतंत्र मार्ग नहीं है।

अ‘ुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदय संनिविष्टः ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एताद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। १३

अ‘ुष्ट मात्र परिमाण वाले अन्तर्यामी परमपुरुष परमेश्वर सदा ही मनुष्यों के हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित है और मनके स्वामी हैं तथा जो केवल अपने निर्मल हृदय और विशुद्ध मन से ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं। जो साधक इन परब्रह्म परमात्मा को 'सोऽहम्' वह मैं हूँ इस प्रकार जानलेता है वह अमर हो जाता हैं। **'ब्रह्म वैद ब्रह्मैव भवति'** ।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहस्यंः ।

सर्वव्यापि स भगवांस्तस्मा त्सर्वगतहः शिवः ॥ ११
सहस्त्र शीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्ष सहस्त्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १४

सर्वतः पाणि पादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृक्ष तिष्ठति ॥ १६॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७॥

- श्वे. उ. अध्याय ३

वह परमपुरुष परमात्मा सभी प्राणीयों के हृदय में स्थित है। वह हजारों सिरवाले, हजारों आखोंवाले, हजारों कानोंवाले, हजारों मुखों वाले, हजारों हाथों पैरों वाले हैं। वे समस्त चराचर जगत् को सब और से घेरकर स्थित हैं। वे परमात्मा समस्त इन्द्रियों से रहित निराकार होने पर भी समस्त इन्द्रियों के प्रकाशक है। तथा सबके स्वामी सबके शासक, और सबका आश्रय है। उसे अपने आत्म रूप से जानना चाहिये।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम् ॥ १९

वह परमात्मा हाथ, पैरों से रहित होने पर भी सब जगह समस्त वस्तुओं को ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात् आत्मा स्वयं निराकार निरवयव अशरीरी है, किन्तु वह समस्त प्राणीयों के शरीर में स्थित होकर उनके समस्त इन्द्रियों का स्वामी बनकर उन-उन से उनका कार्य कराता है। तथा पैरों से रहित होने पर भी यह तेजी से इच्छानुसार सर्वत्र गमन कर लेता है। आँखों से रहित होने पर भी सब जगह सब कुछ देखते हैं, कानों से रहित होकर भी यह सब जगह सब कुछ सुनते हैं। यह समस्त जानने योग्य और जानने में आनेवाले जड़ चेतन पदार्थों को भली भाँति जानते हैं। परन्तु इनको जानने वाला कोई नहीं है। जो सबको जानने वाला है उन्हें भला कौन जान सकता है ? ज्ञानी पुरुष इन्हें महान् विभू आदि पुरुष कहते हैं।

येनदँ सर्वं विजानीयात तं केन विजानीयाद्विज्ञातारम रे केन विजानीयादिति ।

- बृहदारण्यक उपनिषद् - २-४-१४

जिसके द्वारा समस्त जड़-चेतन का ज्ञान होता है उस जानने वाले को किससे जाना जा सकता है ? अर्थात् उसे भिन्न रूप से नहीं जान सकते ।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।।२०।।

सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म तथा महान् से भी महान् परमात्मा इस जीव की हृदय रूप गुफा में छिपा हुआ है । सबकी रचना करने वाले परमेश्वर की कृपा से जो मनुष्य उस सङ्कल्प रहित परमेश्वर एवं उसकी महिमा को निजात्मा रूप से ज्ञान द्वारा अनुभव कर लेता है । वह सदा के लिये सब प्रकार के दुःखों से रहित होकर आनन्द स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है । फिर परमात्मा को उसे बाहर खोजने जाना नहीं पड़ता ।

चतुर्थ अध्याय

नैनमुर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।।११।।

इस परमात्मा को कोई भी न तो ऊपर से न इधर उधर से और न मध्य से ही भलीभाँति पकड़ सकता है । जिसका महान् यश (ऐश्वर्य) नाम है । उसकी कोई मूर्ति अथवा कोई उपमा भी नहीं है कि जिसके द्वारा उनको समझा जा सके या किसी को बतलाकर समझाया जा सके क्योंकि वह परमात्मा वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता और न मन, बुद्धि की वहाँ तक पहुँच है । इस प्रकार वह परमात्मा सर्वथा अग्राह्य अद्वितीय एवं अनुपमेय हैं ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य - २/१८

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।।

- गीता : २/२५

वह अविनाशी अविकारी आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई पड़े ऐसा भी नहीं, उसका विचार करसके ऐसा भी नहीं;क्योंकि वह समस्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे होने के कारण सर्वथा अप्रमेय है ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।

- गीता : ३/४२

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।२२।।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।। २३

उस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप दृष्टि के समक्ष नहीं ठहरता । इस परमात्मा को कोई भी अपने इन प्राकृत आंखो के द्वारा नहीं देख सकता । जो ध्यानादि में उसके किसी भी रूप में (ज्योति, प्रकाश, तारादि) दर्शन करते हैं, वह साधकों का मनोराज्य मात्र है । वह निश्चल अर्थात् सत्य नहीं है । जीवकी सच्ची भक्ति देख परमात्मा स्वयं उसपर कृपा कर ज्ञान दृष्टि (दिव्य चक्षु) प्रदान करते हैं फिर वही भक्त उन्हें दिव्य चक्षुद्वारा अनुभव करने में समर्थ होता है ।

''**पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः**'', ''**ज्ञान ज्ञेयं ज्ञानगम्यं**''

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुतेतेन लभ्यस्तस्यैषआत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।

- कठ उप. १/२/२३

वह परमात्मा न तो प्रवचन करने से, न प्रवचन सुनने से, न शास्त्र लिखने से, न संस्कृत पठन-पाठन से, न तार्किक बुद्धि से प्राप्त होता है तथा जो परमात्मा के सम्बन्ध में नाना प्रकार मतावलम्बियों के द्वारा सुनते रहते हैं उन श्रुतिविप्रतिपन्ना साधकों को भी परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो पाती है । वे परमात्मा तो उन्ही को प्राप्त होते हैं जिन श्रद्धालु भक्तों के प्राण उस परमात्मा को पाने के लिये जल विहीन मछली की तरह व्याकुल हो उठे हैं परब्रह्म उन श्रद्धालु अनन्य भक्तों की बुद्धि पर से अज्ञान का आवरण हटा ज्ञान ज्योति प्रकट कर देते हैं । फिर उस प्रकाश में वे ज्ञानी भक्त अपने को देह से भिन्न एवं परमात्मा से अभिन्न रूप में अर्थात् 'सोऽहम्' स्वरूप में यथार्थ रूप से अनुभव कर पाते हैं ।

मच्चित्तामद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।९।।

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्तिते ।।

- गीता - १०/१०

हे आत्मन् ! निरन्तर मुझ में मन लगाने वाले और मुझमें ही प्राणों को अर्पण करने वाले अर्थात् परमात्मा को अनुभव करने के लिये अपना जीवन अर्पण करने वाले भक्तजन मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं । मुझ वासुदेव के चिन्तन ध्यान में ही जो निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए और प्रेम पूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञान रूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं । अर्थात् वे फिर 'सोऽहम्' 'अहंब्रह्मास्मि' भाव को ही प्राप्त होते हैं ।

पञ्चम अध्याय

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चान्नत्याय कल्पते ।।९।।

यह जीवात्मा बाल की नोक के दस हजार टुकड़े में से एक टुकड़ा जितना आकाश में जगह घेरता है उसी के बराबर सूक्ष्म जीव का स्वरूप समझना चाहिये और वह असीम भाववाला होने में भी समर्थ है ।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरी रमादत्ते तेन तेन स युज्यते ।।१०।।

यह जीवात्मा न तो स्त्री है न पुरुष है और न यह नपुंसक ही है; वह जिस-जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस-उस नाम वाला हो जाता है एवं स्थूल द्रष्टि से उसी प्रकार पुकारा जाता है ।

षष्ठ अध्याय

एको देवः सर्वभूतेषु गुढ़ः सर्वव्यापि सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निगुर्णश्च ॥११

वह एक देव ही सर्व प्राणीयों में छिपा हुआ है । सर्व व्यापि और समस्त प्राणीयों का अन्तर्यामी परमात्मा है वही सबके कर्मों का अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतों का निवास स्थान, सबका साक्षी, चेतन स्वरूप सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्य योगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३

जो एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत से नित्य चेतनात्माओं के कर्मफल भोगों का विधान करता है, उस ज्ञानयोग और कर्मयोग तथा भक्तियोग द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य सबके कारण रूप परमदेव परमात्मा को जानकर मनुष्य समस्त पापों एवं बन्धनों से मुक्त हो जाता है । जिसे जो रुचिकर लगे तत्परता से उसे उस मार्ग में अपने कल्याणार्थ लगजाना चाहिये ।

एको हँसो भुवनास्यास्य मध्ये स एवाग्निःसलिले सनिविष्टः ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१५॥

इस सम्पूर्ण चराचर जगत् में एक मात्र हँस स्वरूप परमात्मा ही परिपूर्ण है वही जल में स्थित अग्नि है; क्योंकि जल अग्नि का कार्य है एवं कार्य में कारण सदा अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है, अतः उस हृदय स्थित साक्षी परमात्मा को यह जीव 'सोऽहम्' रूप से जानकर ही मृत्युरूप संसार समुद्र से सर्वथा पार हो जाता है । दिव्य परमात्मा की प्राप्ति के लिये निजात्मा स्वरूप से जानने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है ।

RRR

ब्रह्मविद्या का पात्र कौन ?

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रा याशिष्याय वा पुनः ॥२२॥

यह परम रहस्यमय ज्ञान पूर्व कल्प में भी वेद के अन्तिम भाग - उपनिषद्

में भली भाँति वर्णित हुआ था किन्तु जिसका अन्तः करण सर्वथा शान्त न होगया हो, ऐसे मनुष्य को इसका उपदेश नहीं देना चाहिये; तथा जो अपना पुत्र अथवा शिष्य न हो, उसे भी नहीं देना चाहिये । क्योंकि पुत्र को अधिकारी बनाना पिता का ही काम है । तथा शिष्य को पात्र बनाना गुरु का ही काम है । यह नियम नहीं है की वह पहले से ही अधिकारी हो ।

यस्यदेवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।२३।।

जिस साधन की परमात्मा में जैसी पराभक्ति है, समस्त दुःखों से छुट परमानन्द लाभार्थ उसी प्रकार अपने गुरु में भी होना चाहिये । ऐसे श्रद्धालु जिज्ञासु शिष्य के शुद्ध मन में ही उन सद्गुरु के द्वारा बताये हुए वेदान्त शास्त्र के गुढ़ रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं । अतः जिज्ञासु को चाहिये कि वह अपने जीवन्मुक्ति प्रदायक सद्गुरु भगवान के प्रति पूर्ण श्रद्धा प्रेममय भक्ति कर उस परमधाम को जीवित अवस्था में ही प्राप्त कर लेना चाहिये जहाँ जाकर पुनः इस मृत्यु रूप देहभाव को प्राप्त न होना पड़े ।

नतत्र सूर्योभाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतोभान्ति कुतोऽयमाग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।१४।।

वहाँ न तो सूर्य प्रकाश फैलाता है न चन्द्रमा और ये तारगाण का समुदाय ही प्रकाश करपाता है । न ये बिजलीयाँ ही प्रकाशित हो सकती है । फिर यह लौकिक अग्नि तो अत्यन्त उन ज्योतियों के सामने तुच्छ है, इसलिये यह भी वहाँ प्रकाशित नहीं हो सकती है । क्योंकि उस परमब्रह्म परमात्मा के प्रकाश से यह सभी जड़ ज्योतियाँ प्रकाशित होती हैं । स्वयंप्रकाश परमात्माके प्रकाश से ही सम्पूर्ण जड़ जगत सहित यह देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि प्रकाशित होते हैं ।

ज्योतिषामपि तज्जयोति स्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञान गम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।

- गीता १३/१७

यह हृदय स्थित साक्षी ज्ञान स्वरूप परमात्मा समस्त 'यह रूप से' 'इदम्' रूप से जानने योग्य, मन, बुद्धि तथा सूर्य चन्द्र, विद्युत, तारों अग्नि आदि समस्त

नाम रूपात्मक जड़ ज्योतियों का प्रकाश है । इसीलिये उसे माया से अत्यन्त परे कहा जाता है । यह आत्म देव बोध स्वरूप विचार रूप तप द्वारा जानने योग्य एवं तत्त्वज्ञान से ही प्राप्त करने योग्य है ।

स्वप्नावस्था में सूर्य, चन्द्र, तारागण, अग्नि, दीप तथा शब्द भी नहीं तब वहाँ कौन प्रकाशक है ? *तत्र किम् ज्योतिः ? अत्रयं पुरुषाः स्वयं ज्योतिर्भवति ।* वहाँ यह स्वयं आत्म देव ही प्रकाशक है ।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।२०।।

जब मनुष्य आकाश को चमड़े की भाँति लपेट सकेगा तब उन परमदेव परमात्मा को बिनाजाने भी उसके दुःख समुदाय का अन्त हो सकेगा ।

भाव यह है कि मनुष्य कभी भी आकाश को चादर की तरह लपेट नहीं सकता और न मनुष्य परमात्मा को जाने बिना इस जन्म-मरण संसार से निवृत हो सकेगा ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

FFF

छान्दोग्य उपनिषद्

(यह उपनिषद् सामवेद तलवकार शाखा के अन्तर्गत है)

षष्ठ अध्याय

प्रथम खण्ड

अरुणि उद्दालक का अपने पुत्र श्वेतकेतु से प्रश्न :

हे सोम्य ! क्या तू उस विज्ञान को जानता है जिसके द्वारा 'अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है ।' यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा - भगवन् ! वह विज्ञान कैसा है जिसके द्वारा बिना सुना हुआ भी सुना हुआ-सा हो जाता है । बिना देखा हुआ, देखा हुआ-सा हो जाता है, तथा बिना जाना भी जाना हुआ-सा हो जाता है ?

उद्दालक ने कहा - हे सोम्य ! जिस प्रकार एक मिट्टी के पिण्ड से कुम्हार घड़ा, सुराई, दीप, ईंटा, खपरा, गणेश, दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी आदि अनेक आकारों को बना देता है किन्तु उन समस्त आकृतियों का आधार तो एक मात्र मिट्टी ही है । नाम-रूप तो कहने मात्र का है सत्यता तो उन सभी आकारों में मिट्टी की ही है ।

हे सोम्य ! जिस प्रकार एक लोह पिण्ड से लोहार नाना प्रकार के अस्त्र, शस्त्र, साइकल, मशीन, औजार, बाल्टी, पेटी, बाक्स, चद्दर आदि बनादेता है, किन्तु उन सभी आकारों में सत्ता एक मात्र लोह की ही रहती है । रूप तो व्यवहारार्थ वाणी पर अवलम्बित केवल नाम मात्र है ।

अथवा हे सोम्य ! जैसे सुनार एक स्वर्ण पिण्ड के द्वारा सौन्दर्यार्थ चेन, चूड़ी, कंगन, बाली, बाला, अंगुठी, कमर बन्द, भुजबन्द, पाइजप, बिछुड़ी आदि विभिन्न आकृतियों को बना देता है, किन्तु उन सभी नाम-रूप आकृतियों का आधार तो एक स्वर्ण ही सत्य है । क्योंकि रूप विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाम मात्र है ।

द्वितीय खण्ड

सत् रूप परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति

हे सोम्य ! सृष्टि के आदि में इसी प्रकार एक सत् ब्रह्म ही था । 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन्' । फिर उसी सतब्रह्मने पूर्व सृष्टि के जीवों को उनके संचित् शुभाशुभ कर्मों से अर्जित पुण्य-पाप के फल स्वरूप सुख-दुःख भोगार्थ नूतन सृष्टि रचना करने के लिये 'मैं बहुत हो जाऊँ - नाना प्रकार से हो जाऊँ' इस प्रकार उसने तेज, जल, तथा अन्न की रचना की ।

चतुर्थ खण्ड

त्रिवृत्करण

हे सोम्य ! अग्नि में जो लाल रंग है वह तेज का है; जो शुक्ल रूप है वह जल का है और जो कृष्ण रंग है वह अन्न का है । अग्नि रूप विकार वाणी से कहने के लिये नाम मात्र है । अग्नि से यदि तेज अपना रोहित रूप, जल अपना शुक्ल रूप, अन्न अपना श्याम रूप निकाल ले तो इस प्रकार अग्नि से अग्नित्व की निवृत्ति हो गयी ।

हे सोम्य ! आदित्य (सूर्य) का जो चमकता हुआ लाल रूप है, वह तेज का है, जो शुक्ल रूप है, वह जल का और जो कृष्ण रूप है वह अन्न का है । इस प्रकार आदित्य से अदित्यत्व निवृत्त हो गया । क्योंकि सूर्य रूप विकार वाणी पर अवलम्बित नाम मात्र है । तेज, जल, अन्न, यह तीन रूप है - इतना ही सत्य है और लय चिन्तन द्वारा यह तीन रूप भी एक सत ब्रह्म ही है ।

हे सोम्य ! इसी प्रकार चन्द्रमा, विद्युतरूप में भी यह तेज, जल तथा अन्न को ही सत्य जान, क्योंकि विकार तो वाणीपर अवलम्बित नाम मात्र है, तीन रूप है - इतना ही सत्य है । इस संसार में जो कुछ रोहितसा है, वह तेज रूप का है, जो शुक्ल-सा है, वह जल का रूप है तथा जो कृष्ण-सा है वह अन्न का रूप है । हे सोम्य ! अब तू मेरे द्वारा यह जान कि यह तेज, जल तथा अन्न तीनों देव किस प्रकार पुरुष शरीर को प्राप्त होकर उनमें स्थित है ।

पञ्चम खण्ड

मन अन्नयम, प्राणमय जल, वाक तेजोमय है

खाया हुआ अन्न जल, तथा तेज, सूक्ष्म, मध्यम तथा स्थूल इस प्रकार तीन तरह विभाजित हो जाता है । अन्न का जो अत्यन्त सूक्ष्मभाग होता है, वह मन हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मांस हो जाता है तथा स्थूल भाग मल हो जाता है । पीये हुए जल का सूक्ष्म भाग प्राण रूप में मध्यम भाग रक्त रूप में तथा जो स्थूल भाग है वह मुत्र हो जाता है । दुग्ध, घृतादि तैलिय पदार्थों का जो सूक्ष्म भाग होता है वह वाक् हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा हो जाता है और जो स्थूल भाग है वह हाड़ हो जाता है ।

हे सोम्य ! जैसे दही का मन्थन करते-करते उस दही का जो सूक्ष्मभाग होता है वह ऊपर इकट्ठा हो जाता है; वह घृत होता है । उसी प्रकार हे सोम्य ! खाये, पीये, अन्न, जल, तथा तेज का सूक्ष्मतम भाग से शरीर में मन अन्नमय है, प्राण जल मय है और वाणी तेजोमयी है ।

सप्तम खण्ड

मन की अन्नमयता निश्चय

हे सोम्य ! यह पुरुष सोलह कलाओं वाला है । तू पन्द्रह दिन भोजन मत कर, केवल, यथेच्छा जलपान कर तो जल द्वारा तेरे प्राणों की रक्षा तो होती रहेगी, किन्तु तू अपनी पढ़ी विद्या का पाठ करने में असमर्थ हो जावेगा । तुझे उनका स्फुरण नहीं होगा; क्योंकि पन्द्रह दिन अन्न न खाने से तेरी बुद्धि शक्ति क्षीण-सी हो जाने के कारण । जिस प्रकार बहुत विशाल अग्नि की एक चिन्गारी रूप रहजावे तो वह अधिक जलाने का, तपाने का कार्य नहीं कर सकती, फिर उसी जुगनु के बराबर अग्नि की चिन्गारी को महान् ईन्धन से सम्पन्न कर प्रज्वलित कर दिया जाय तो वह अधिक दाह, ताप प्रकाश कर सकती है । इसी प्रकार पुरुष की सोलह कलाओं से प्रन्द्रह दिन अन्न न खाने के कारण केवल एक कला शेष रह जाने से यह पुरुष स्मरण नहीं कर पाता है । किन्तु जब यह पुनः थोड़ा-थोड़ा अन्न खाना प्रारम्भ कर देता है तो वह मन, बुद्धि अन्न को प्राप्त होकर उस बढ़ी हुई बुद्धिशक्ति, स्मरण शक्ति, स्फूरण शक्ति द्वारा पुनः वेदों का अनुभव कर पाता है । अतः हे सोम्य ! यह मन अन्नमय, प्राण जल मय तथा वाक् तेजोमयी है ।

अष्टम खण्ड

बन्धे पक्षी का दृष्टान्त

उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा - हे सोम्य ! जिस समय यह पुरुष 'सोता है' ऐसा कहा जाता है उस समय यह सत् से सम्पन्न हो जाता है । यह अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है एवं सभी अनात्म देह संघात के अहंकारों से मुक्त बाह्य ज्ञान शुन्य हो जाता है । क्योंकि यह उस सत्य स्व-अपने आपको ही प्राप्त हो जाता है । हे सोम्य ! जिस प्रकार डोरी से बन्धा हुआ पक्षी डोरी के लम्बाई के अनुसार इधर-उधर आकाश में उड़ता हुआ अन्यत्र विश्राम न पाकर पुनः अपने बन्धन स्थान का ही आश्रय लेता है । उसी प्रकार निश्चय ही यह मन प्राण डोरी से बन्धा हुआ नाना स्थानों, पदार्थों, व्यक्तियों में भटक कर जब इसे कहीं शान्ति का अनुभव नहीं होता है तब यह अपने बन्धन स्थान आनन्द स्वरूप आत्मा का ही आश्रय लेकर परम शान्ति का अनुभव करता है ।

सत् आत्मा ही सबका मूल है ।

हे सोम्य ! इस शरीर रूप अंकुर का मूल अन्न है; क्योंकि यह निराधार,

कारण रहित, निर्मूल नहीं हो सकता । अन्न को छोड़कर इसका मूल और कहाँ हो सकता है ? जैसे जल वृक्ष उत्पत्तिका हेतु है उसी प्रकार रज-वीर्य रूप जल द्वारा ही शरीर की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार हे सोम्य ! तू अन्न रूप अंकुर के द्वारा जल रूप मूल को खोज और हे सोम्य ! यह जल रूप अंकुर का भी जो मूल है उस तेज कारण को खोज तथा यह तेज कारण रूप, जिस मूल ब्रह्म का अंकुर है, उस सद्रूप मूल ब्रह्म का अनुसन्धान कर । इस प्रकार हे सोम्य ! यह सारी प्रजा का मूल एक सत ब्रह्म ही है । सत ही इस सृष्टि का आश्रय है और वह सत से तू भिन्न नहीं है अर्थात् वह तू है । '*तत्त्वमसि*' ।

नवम खण्ड

मधुका दृष्टान्त

हे सोम्य ! जिस प्रकार मधुमक्खियाँ नाना प्रकार के पुष्पों से रस लाकर एकता को प्राप्तकरा कर मधु निष्पन्न करती है । वे रस जिस प्रकार एकत्व को प्राप्त उस रस रूप मधुमें इस प्रकार का विवेक प्राप्त नहीं कर सकते कि 'मैं इस पौधे का, इस वृक्ष का, इस पुष्प का रस हूँ, हे सोम्य ! ठीक् इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा गहन निद्रा काल में सत् को प्राप्त होकर यह नहीं जानती है कि हम सुषुप्ति से पूर्व किस लोक में, किस योनि में थे । हे सोम्य ! यह समस्त प्रजा पुनः अपने फलित संचित् कर्मों को भोगने हेतु जाग्रत होकर पुनः मनुष्य लोक में सिंह, साँप, सांड, सूकर, गाय, बैल, ऊँट, हाथी, कुत्ता, भेड़िया, डाँस, मच्छर जो-जो भी सुषुप्ति से पूर्व थे वही अवस्था में पुनः जाग्रत हो जाते हैं ।

हे सोम्य ! वह जो अणिमा है एतद्रुप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतु 'वही तू है' 'तत्त्वमसि' ।

दशम खण्ड

नदियों का दृष्टान्त

हे सोम्य ! ये नदियाँ समुद्र से निकलकर अपने-अपने मार्ग से बहती हुई पुनः समुद्र में ही मिलजाती है और वह समुद्र रूप ही हो जाती है । वह समस्त नदियों का जल समुद्र में जिस प्रकार यह नहीं जानता है कि मैं यह गंगा हूँ 'यह मैं यमुना हूँ' । ठीक् उसी प्रकार हे सोम्य ! ये सम्पूर्ण प्रजाएँ प्रलयके समय सत् से एकत्व को

प्राप्त होकर यह वहाँ नहीं जानती है कि हम पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सिंह, भेड़िया, कुत्ता आदि रूप से आकर ब्रह्म को प्राप्त हुए है । ये सम्पूर्ण प्रजाएँ सत से अभिन्न होकर कुछ काल रहने पर स्वरूप ज्ञान न होने के कारण संचित् कर्म भोगने हेतु पुनः अपने-अपने पूर्व जन्म के कर्मानुसार व्याघ्र, सिंह, शूकर, कूकर, कीट, पतंग, डाँस, मच्छर, साँप, बिच्छु, मेढ़ंक, मगर, मछली, मुर्गी, मयुरादि शरीर को धारण कर लेते हैं । तब भी नहीं जानते है कि हम सत ब्रह्म के पास से आये हैं । हे सोम्य ! जिससे यह सृष्टि के समस्त जीव उत्पन्न होते हैं जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह सब अपना अपना भोग ग्रहण करते हैं, और पुनः जिसमें यह सब लीन हो जाते हैं, वह परब्रह्म है । वही जानन योग्य है । वही तू है । 'तत्त्वमसि' ।

एकादश खण्ड

वृक्षका दृष्टान्त

हे सोम्य ! यदि कोई इस महान् वृक्ष के मूल में किसी कुठार, तलवार, चाकु आदि तीक्ष्ण धार वाले अस्त्र, शस्त्र से आघात करे तो यह वृक्ष जीवित रहते हुए केवल रसस्त्राव करेगा और यदि इसके अग्रभाग, टहनी, डाल को आघात करेगा तो वह भी जीवित रहते हुए रसस्त्राव करेंगी । यह वृक्ष जल आत्मा से ओत-प्रोत है और जल पान करता हुआ आनन्द पूर्वक स्थित है । यदि इस वृक्ष की एक शाखा को काट दिया जावे तो उसका जल आत्मा से सम्बन्ध टूट जाने से वह सूखजाती है, इसी प्रकार सम्पूर्ण वृक्ष का जल जीव से सम्बन्ध टूट जाता है तो यह सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है । हे सोम्य ! ठीक् इसी प्रकार तू यह जान ले कि जीव से रहित होने पर यह शरीर वृक्ष भी मर जाता है किन्तु यह जीव नहीं मरता है । ''वह जो अणिमा है एतद्रुप ही यह सब है । वह सत्य है । वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वही तू है ।'' ''तत्त्वमसि'' ।

द्वादश खण्ड

वट-बीज का दृष्टान्त

हे सोम्य ! इस वट वृक्ष के फलों को तोड़कर उसे फटा देने पर बहुत छोटे-छोटे बीज दिखाई पड़ते हैं । लेकिन उन अणुबीज को तोड़ने पर कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता । हे सोम्य ! इस वट बीज की जिस अणिमा को तू अपनी प्राकृत नेत्रों

द्वारा नहीं देख पाता है, उसी अणिमा का ही यह इतना बड़ा वट वृक्ष खड़ा हुआ है । हे सोम्य ! वह जो यह अणिमा इस वट वृक्ष की है, एतद्रुप ही यह सब है । वह सत्य है वह आत्मा है और 'वह तू है' तू मेरे इस उपदेश में श्रद्धा कर ।

त्रयोदश खण्ड

नमक का दृष्टान्त

हे सोम्य ! जैसे पानी के ग्लास में एक चम्मच नमक डाल एक दिन बाद उस नमक को उस पानी में से नहीं निकाला जा सकता है, किन्तु वह नमक अनुभव से प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि वह नमक उस जल में सदा विद्यमान रहता है । हे सोम्य ! जल में व्याप्त नमक की तरह वह अखण्ड सत ब्रह्म ही निश्चय ही यहाँ सर्वत्र विद्यमान है, किन्तु उसे तू इन अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा देख नहीं सकता । वह जो अणिमा है एतद्रुप ही यह समस्त संसार है । वह सत्य है । वह आत्मा है और श्वेतकेतु ! वही तू है ! हे सोम्य ! तू मेरे इस कथन पर श्रद्धा विश्वास कर । तू अपने को इस सत् ब्रह्म से किंचित् भी अन्य न जान । यदि तूने उस सत ब्रह्म से अपने को भिन्न माना तो मृत्यु लोक में जा गिरेगा, वहाँ फिर जन्म-मरण का असहनीय कष्ट भोगना पड़ेगा ।

चतुर्दश खण्ड

आँख बन्धे हुए पुरुष का दृष्टान्त

हे सोम्य ! जैसे किसी धनाढय व्यक्ति को कोई डाकु उठा जंगल में ले जावे और वहाँ उसका धन छीन हाथ बान्ध, आंख पर पट्टी बान्ध छोड़ देता है तो वह नेत्र व हाथ बंधा पुरुष किसी व्यक्ति को अपनी रक्षार्थ पुकारता है । तब कोई सज्जन उसकी आंखों की पट्टी व हाथ की रस्सी खोल उसके नगर का मार्ग बता देता है, तो वह सेठ एक ग्राम से दूसरे ग्राम का मार्ग पूछता हुआ स्वधाम पहुँच जाता है । इसी प्रकार इस लोक में दुःखी जीव को मुक्ति दिलाने हेतु उस जीव को देहाध्यास से मुक्त कराने की ही जरूरत रहती है; क्योंकि जीव तो स्वयं ब्रह्म ही है । इसे स्वधाम पहुँचने हेतु किसी मार्ग पर चलकर पहुँचना नहीं पड़ता । जिस परमधाम को यह पाना चाहता है वह वहाँ पूर्व से ही स्थित है । केवल देहभाव के त्याग न करने तक ही यह जीव स्वधाम से अपने को दूर मानने की भ्रान्ति किये रहता है । उसके लिये

मोक्ष होने में उतना ही विलम्ब है जब तक कि वह किसी सद्गुरु की शरण को प्राप्त नहीं होता है तथा अपने देह अहंकार से मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। वह जो यह अणिमा है, एतद्रुप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वही तू है। ''तत्त्वमसि''।

पञ्चदश खण्ड

मुमुर्षु का दृष्टान्त

हे सोम्य ! मरने के नजदीक पुरुष को यदि कोई कुछ पूछे तो वह उस पूछने वाले को तभी उत्तर दे सकता है, जबतक कि उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज पर देवता में लीन नहीं हुआ है। यदि उस मुमुर्षु पुरुष की वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज पर देवता में लीन हो गया है तो वह मुमुर्षु पुरुष किसी प्रकार का उत्तर नहीं दे पाता है, न किसी को पहचान पाता है। वह जो यह अणिमा है जिसके सहारे मुमुर्षु पुरुष जीवित है, एतद्रुप ही यह सब जगत् है। वह सत्य है। वह आत्मा है और वही तू है। श्वेतकेतु ! हे सोम्य ! मेरे इस सत्य वचन में श्रद्धा विश्वास कर भव बन्धन भ्रान्ति से मुक्त हो जा।

षोडश खण्ड

मिथ्या ज्ञानी और सच्चे ज्ञानी की पहचान

हे सोम्य ! जिस सत कर्म को अज्ञानि करता है तो वह उस कर्म फल को प्राप्त होकर जन्म-मरण के बन्धन को प्राप्त होता है, किन्तु जब कोई आत्मदर्शी द्वारा वही कर्म होता है तो वह बन्धन को प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि उस अज्ञानि को देह, इन्द्रिय, प्राण तथा मनादि के किये हुए कर्मों में कर्ता बुद्धि होती है, जब की ज्ञानी पुरुष के मन में उन्हीं कर्मों के सहयोगी साधन देह, प्राण, इन्द्रिय तथा मनादि में अहंबुद्धि नहीं होने के कारण वह ज्ञानी उसका साक्षी बना रहता है। इसलिए विद्वान का पुनर्जन्म नहीं होता और अज्ञानि का पुनर्जन्म होता है।

यस्य नाहं कृतो भावोबुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

- गीता १८/१७

जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सासांरिक पदार्थों में और कर्मों में लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मार कर भी वास्तव में ना तो मारता है और न पाप से बन्धता है ।

हे सोम्य ! यह सब एतद्रुप ही है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वही तू है । मेरे इस कथन में पूर्ण श्रद्धा कर एवं जन्म-मरण बन्धन से मुक्त हो ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

- गीता ३/२७

हे सोम्य ! वास्तव में सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के तीनों गुणों एवं पंच भूतों से उत्पन्न चौदह त्रिपुटियों के द्वारा होते रहते हैं, किन्तु अपने को साक्षी रूप से न जानने वाला देह, प्राण, इन्द्रियों में अहं-मम करने वाला अज्ञानि 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा अभिमान कर जन्म-मरण बन्धन को अर्थात् पुनरावर्तन को प्राप्त होता है ।

हे सोम्य ! सकाम कर्मी कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन के समय प्राण त्यागने वाला अपने शुभ कर्मों का फल भोग स्वर्गादि लोकों से पुनः मर्त्यलोक में वापस आता है । हे सोम्य ! यह देहाभिमानी की गति है, परन्तु इससे भिन्न जो साक्षी भाव में स्थित ज्ञानी पुरुष है वे शुक्ल पक्ष, उत्तरायण के समय देह त्यागने वाला पुनः इस जन्म-मृत्यु रूप देहभाव को प्राप्त नहीं होता है ।

- गीता-८/२६-२७

सप्तम अध्याय

प्रथम खण्ड

सनत् कुमार द्वारा नारद को उपदेश

नारद ने कहा - भगवन् ! मुझे उपदेश कीजिये । मैंने सुना है कि आत्मवेत्ता शोक के सागर से पार हो जाता है । '**तरति शोकमात्मवित**' हे भगवन् ! मैं समस्त वेद इतिहास, पुराण, पंचम वेद (व्याकरण) श्राद्ध, कल्प, गणित, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, भूत विद्या, सर्पविद्या, नृत्य विद्या, संगित विद्या आदि सभी जानता हूँ

किन्तु मुझे शान्ति नहीं है । मैं शोक के सागर में डूबा हुआ कष्ट पा रहा हूँ । आप मेरा उद्धार कीजिये । तब सनत्कुमार ने उनसे कहा - ''तुम जो कुछ जानते हो यह सब अनात्म विद्या है । तुम केवल मन्त्र वेत्ता हो आत्म वेत्ता नहीं हो ।''

हे नारद ! तुम जो कुछ यह जानते हो वह नाम ही है । तुम नाम की उपासना करो । वह जो कि नाम की 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, उसकी जहाँतक वाणी की गति है, वाणी कह पाती है वहाँतक गति हो जाती है । नारद ने कहा - 'भगवन् ! क्या नाम से भी श्रेष्ठ कुछ है ? सनत्कुमार ने कहा - नाम से श्रेष्ठ वाक् है । वाणी से ही सब कुछ कहा जाता है । वाणी से ही सत्य-असत्य का साधु-असाधु, चोर-अचोर, धर्म-अधर्म का निरूपण होता है । अतः तुम वाक् की उपासना करो, वह जो वाणी की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उसकी जहाँ तक वाणी की गती हो सकती है वहाँ तक उस साधक की भी पहुँच हो जाती है । क्या भगवन् वाणी से भी श्रेष्ठ कुछ है ? सनत्कुमार ने कहा - हे नारद ! वाणी से मन ही उत्कृष्ट है । मन में विचार करने पर ही वाणी उत्पन्न होती है । नारद - क्या भगवन् ! इस मन से भी बढ़कर कुछ है ? सनत्कुमार ने कहा - हे नारद ! मन से संकल्प श्रेष्ठ है । बिना संकल्प किये मन में कोई स्फूरणा नहीं होती । जिस समय पुरुष संकल्प करता है तभी वह मनस्यन करता है अर्थात् मन में विचार करता है और वाणी को प्रेरित करता है ।

नारद ने कहा - हे भगवन् ! क्या इस संकल्प से बढ़कर कुछ है ? सनत्कुमार ने कहा - हे नारद ! चित्त ही संकल्प से उत्कृष्ट है । जिस समय पुरुष चेतनावान होता है तभी वह संकल्प करता है । फिर मननादि उपरोक्त कर्म करता है और चित्त से बढ़कर ध्यान है बिना ध्यान के चित्त में कोई चेतना नहीं होती । किन्तु ध्यान से श्रेष्ठ विज्ञान है । बिना विज्ञान के किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता और विज्ञान से बल श्रेष्ठ है । बिना बल के विज्ञान ज्ञान की शक्ति नहीं आती और बल से श्रेष्ठ अन्न है । यदि १० दिन भोजन न करें तो शरीर में बल नहीं रहता । किन्तु अन्न से जल श्रेष्ठ है । बिना जल के अन्न की उत्पति नहीं एवं जल से श्रेष्ठ तेज है, क्यों कि तेज के बिना जल की उत्पत्ति नहीं अतः तेज श्रेष्ठ है । तेज से बढ़कर वायु है । बिना वायु के घर्षण हुए अग्नि उत्पन्न नहीं होती व बिना वायु के सब प्राणीयों की मृत्यु हो जावेगी । वायु ही सबका प्राण है । किन्तु वायु का अधिष्ठान आकाश ही

है । इसी में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बादल, पृथ्वी आदि स्थित है । आकाश के कारण ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते-आते हैं । आवाज देते तथा सुनते है । अंग हिलते डुलते व उठते, बैठते हैं । आकाश से श्रेष्ठ स्मरण है । बिना स्मरण के कोई कुछ देखना, सुनना, सुघंना, चखना, स्पर्शादि नहीं करता । बिना स्मरण मनन नहीं होता बिना मनन किसी का अनुभव नहीं होता । किन्तु स्मरण से बढ़कर आशा है । आशा से दीप्त हुआ पुरुष ही स्मरण पाठ करता है । कर्म करता है । लोक परलोक, कुटुम्ब परिवार धन, पुत्र, स्त्री की कामना करता है । किन्तु प्राण ही आशा से श्रेष्ठ है । प्राण के लिये ही सब से आशा रखता है । लोगों से प्रेम सम्बन्ध बनाता है । मोह करता है, बिना प्राण के आशा कैसी व किसकी ? प्राण से बढ़कर सत्य है । सत्य ही की विशेष रूप से जिज्ञासा करना चाहिये,क्योंकि प्राण तो जड़ वायु रूप है । यह प्राण अपान द्वारा शरीर टिका रहता है । किन्तु जो प्राण अपान का भी धारण करने वाला है उसे जानना चाहिये । सत्य को जानने से पूर्व विज्ञान होना जरूरी है, बिना जाने उसे कैसे जानने की चेष्टा करेगा ? अतः विज्ञान की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये तभी तो सत्य-असत्य, पुण्य-पाप, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान होता है । तदानुसार ही क्रिया करता है । किन्तु विज्ञान से मति श्रेष्ठ है । बिना मनन किये ज्ञान प्राप्त नहीं होता बिना मनन किये कोई नहीं जान सकता । किनतु मति की अपेक्षा श्रद्धा श्रेष्ठ है । बिना किसी तत्त्व में श्रद्धा हुए कोई क्यों मनन करेगा ? किन्तु श्रद्धा से बढ़कर निष्ठा ही श्रेष्ठ है बिना किसी के प्रति निष्ठा हुए श्रद्धा क्यों व कैसे होगी ? किन्तु बिना कृति कर्म किये निष्ठा नहीं होती है । बिना सुख की आशा के कोई भी कर्म क्यों करेगा ? अतः सुख कर्म से श्रेष्ट है । ***निश्चय जो भूमा है वही सुख है अल्प में सुख नहीं है'*** सुख भूमा ही है । और जो भूमा है वही अमृत है । जहाँ आत्मा के अलावा कुछ नहीं देखता जहाँ कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह भूमा है । किन्तु जहाँ अन्य देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है, वही नाशवान है वहीं मर्त्य है । अतः जो भूमा है वही अमृत है और वह *आत्मा ही एक ऐसा तत्त्व है जो भूमा है अतः आत्मा को ही जानने की जिज्ञासा करना चाहिये उससे श्रेष्ठ कुछ अन्य नहीं है* । उसे जाने बिना मुक्ति हेतु अन्य कोई मार्ग नहीं ।

'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनायः'

- श्वेताश्वेत. ६/१५

पञ्चविंश खण्ड

भूमा ही सर्वत्र सब कुछ और आत्मा है

वह नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है। अब उसी में साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान किया जाता है कि - मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायों और हूँ, मैं ही बायीं और हूँ और मैं ही यह सब हूँ।

मैं (आत्मा) ही नीचे है, आत्मा (मैं) ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्म ही आगे है, आत्मा ही बायीं ओर है, आत्मा ही दायीं और है। मैं आत्मा ही यह सब दृश्यमान जगत् रूप में सर्वत्र विद्यमान हूँ। वह यह इस प्रकार देखने वाला, मनन करने वाला तथा विशेष रूप से इस प्रकार जानने वाला होता है। वह स्वराट है। उसकी सम्पूर्ण लोको में गति होती है। जो अल्प दृश्य जगत् को जानते, मानते एवं प्राप्त करने में प्रयत्नशील है वह स्वर्गमर्त्यादि नाशवान लोकों को ही प्राप्त होते हैं। आत्मज्ञानी न तो मृत्यु को देखता है न रोग को और न दुःखत्व को ही। वह विद्वान् सबको आत्मा रूप ही देखता है। इसलिये वह विद्वान् समस्त लोक एवं भोग को स्वतः प्राप्त हो जाता है। जैसे बिना प्रयास के नदियाँ समुद्र को प्राप्त हो जाती है अथवा समुद्र को नदियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती है।

आहार शुद्धि से अविद्या की निवृत्ति

आहार शुद्धो सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धि ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलम्भे सर्व ग्रन्थानां विप्र मोक्षः ॥

- ७/२६/२

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध यही जीव के पंच विशेष रूप आहार है। जिसे वह अपने श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण इन पांचों मुखों से जीवन पर्यन्त ग्रहण करता रहता है। जब तक किसी साधक की इन पंच विषय रूप आहार शुद्धि नहीं होती है तबतक अन्तः करण की शुद्धि नहीं होती है क्योंकि यह नियम है जैसा खाओगे अन्न वैसा होगा मन, और जैसा मन होगा वैसा ही उसे अन्न पसन्द होगा।

अन्न, जल, तेज का सूक्ष्मतम अंश से मन, प्राण एवं वाक् प्रभावशाली होते हैं ।

अतः हे नारद ! आहार शुद्धि से ही अन्तःकरण की शुद्धि होती है । अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ही निश्चल स्वरूप स्मृति '**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' होती है । सोऽहम्, '**अहंब्रह्मास्मि**' स्मृति की प्राप्ति होने पर ही उनके मन से जीव , ईश्वर का भेद, जीव जीव का भेद, जड़ जीव का भेद, जड़ ईश्वर का भेद, जड़ जड़ का भेद दूर हो जाता है तथा अपने स्वरूप के प्रति भेदभ्रान्ति, कर्ताभोक्ता भ्रान्ति संगभ्रान्ति, विकार भ्रान्ति, ब्रह्म से भिन्न यह देह जगत सत्य होने की भ्रान्ति दूर होकर वे प्रमाणगत संशय, प्रमेयगत संशय तथा विपर्यय दोष से मुक्त ब्रह्म के साथ जीवित अवस्था में एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं । इस प्रकार नारद जी का अज्ञानान्धकार सनत् कुमार भगवान ने दूर कर दिया ।

अष्टम अध्याय

सप्तम खण्ड

इन्द्र और विरोचन को प्रजापति का उपदेश

एक समय प्रजापति द्वारा जीव कल्याण के लिये यह घोषणा सर्वत्र प्रसारित की गयी कि जो सद्गुरु के शरण में श्रद्धा सम्पन्न होकर आत्मा को जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओं को पूर्ण करलेता है । वह आत्मा पापशून्य, जरा रहित, मृत्यु रहित, शोक रहित, क्षुधा रहित, पिपासा रहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है ।

प्रजापति के इस आदेश को देवता और असुर दोनों ने ही जान लिया । तब देवनगरी से इन्द्र तथा असुर नगरी से विरोचन हाथ में समिधाएँ लेकर उस आत्मतत्त्व को जानने हेतु प्रजापति के पास पहुँचे । वहाँ उपदेश प्राप्त करने के लिये साष्टांग प्रणाम कर उपस्थित हो हाथ जोड़ आत्मोपदेश के लिये प्रार्थना की कि - 'हम उस आत्मा को जानना चाहते हैं, जिसे जान लेने पर जीव समस्त लोक और भोग को प्राप्त कर लेता है ।'

देवताओं का राजा इन्द्र और असुरों का राजा विरोचन - ये दोनों परस्पर ईर्ष्या करते हुए बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए प्रजापति के यहाँ वास

करते रहे, तब उनसे प्रजापति ने कहा - ''तुम यहाँ किस इच्छा से रहे हो ?' उन्होंने कहा - 'जो आत्मा पाप रहित, जरा-मृत्यु रहित, क्षुधा-पिपासा रहित, शोक रहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है, उस आत्मा की महिमा आपके द्वारा फैलायी गयी थी, उस आदेश को शिष्ट जनों से सुनकर हम भी उसी आत्मा को जानने की इच्छा करते हुए यहाँ रहे हैं ।

३२ वर्ष बाद जाग्रत अवस्था द्वारा आत्मदर्शन

प्रजापति ने इन्द्र विरोचन को कहा - ''यह जो पुरुष नेत्रों से देख रहा है, देखने की शक्ति दे रहा है, जिसकी शक्ति का अंश पाकर आंख रूप देखने में समर्थ होती है वह ही यह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है ।

तब इन्द्र व विरोचन ने प्रजापति से पूछा - 'भगवन् ! यह जो जल में, दर्पण में दिखाई देता है, उनमें आत्मा कौन-सा है ?'' इस पर प्रजापति ने कहा -'मैंने जिस नेत्र अन्तर्गत पुरुष का वर्णन किया है वही, इन सब में सब ओर प्रतीत होता है । क्योंकि कारण ही कार्य रूप में प्रतीत होता है । बिना कारण के कार्य की प्रतीति नहीं होती है ।

अष्टम खण्ड

विरोचन का भ्रान्तधारणा

विरोचन प्रजापति के तात्पर्य को न समझ देह को ही आत्मा मान शान्त चित्त से असुर लोक में पहुँचा और अन्य लोगों को यह आत्म विद्या सुनायी - कि यह शरीर ही आत्मा है । यही पूजनीय है, और शरीर ही सेवनीय है । शरीर की ही पूजा और परिचर्या करने वाला पुरुष ही इस लोक और परलोक दोनों लोकों को प्राप्त करलेता है । यह सिद्धान्त असुरों का है । वे ही मृत पुरुष के शरीर को भिक्षा, श्राद्ध, गन्ध, पुष्प, सिन्दुर, श्रृंगार, स्नान, वस्त्र धारण कराते हैं तथा उसके मुख में गंगाजल, तुलसीपत्र, मिष्ठान्न देते हैं । तथा उसे वस्त्र और अलंकार से सुसज्जित कर उसके सम्मुख नाच, गाना, बजाना, करते हैं । और इसके द्वारा हम परलोक प्राप्त करेंगे ऐसा मानते हैं । असुरों के इस प्रकार वेद विरुद्ध मत का जो कोई पालन करेगा, वह निश्चय ही पराभव को प्राप्त होगा अर्थात् महान् दुःख रूप संसार गति को प्राप्त होगा ।

नवम खण्ड

इन्द्र का प्रजापति के पास पुनः आगमन

प्रजापति के पास से इन्द्र उपदेश पाकर देवलोक पहुँचने के पहले ही मन में संशय उत्पन्न होगया कि यह जो शरीर को अलङ्कृत होने पर यह छायात्मा भी अच्छी तरह अलङ्कृत होता है, सुन्दर वस्त्र धारी होने पर सुन्दर वस्त्रधारी होता है और परिष्कृत होने पर परिष्कृत होता है । उसी प्रकार अन्धा, लंगड़ा, होने पर अन्धा, लंगड़ा हो जाता है तथा इस शरीर के नष्ट हो जाने पर यह भी नष्ट हो जाता है । इस छायात्मा दर्शन में मैं कोई आत्मा की नित्याता, एकरसता, निर्विकारता, स्वतन्त्रता, अखण्डता आदि किसी भी धर्म को नहीं देखता हूँ । इसलिये प्रजापति के पास इन्द्र पुनः समित्पाणि होकर आये । उसने प्रजापति को कहा कि मैंने जो छायात्मा को जाना है, उसमें आत्मा के कोई लक्षण प्रतीत नहीं होते हैं । इन्द्र के अनुभव को ठीक बताते हुए प्रजापति ने कहा यह छायात्मा अनित्य है, 'मैं तुम्हारे लिये इसकि पुनः दूसरी प्रकार से व्याख्या करूँगा । अब तुम बत्तीस वर्ष यहाँ और रहो । 'इन्द्र वहाँ ३२ वर्ष साधनामय जीवन व्यतीत करने को पुनः रह गया ।

६४ वर्ष के बाद स्वप्नावस्था द्वारा आत्मदर्शन

बत्तीस वर्ष की द्वितीय साधना के बाद प्रजापति ने इन्द्र को कहा 'जो यह स्वप्न साक्षी पुरुष नाना प्रकार के जीवों को भोगते, भागते हुए देख रहा है, वह स्वप्न द्रष्टा पुरुष ही आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है और यही ब्रह्म है । ऐसा सुनकर प्रजापति को प्रणाम कर इन्द्र प्रसन्न चित्त देव नगरी की ओर चले । किन्तु देवलोक पहुँच ने के पूर्व ही उन्हें अपने आत्मानुभव में संशय होने लगा कि यह शरीर दिन में स्वस्थ होता है तो भी स्वप्न में रोगी हुआ, लंगड़ा तथा अन्धा हुआ दिखाई पड़ता है । दिन में निर्धन होता है तो रात स्वप्न में धनवान प्रतीत होता है । इस प्रकार यह निर्दोष आत्मा नहीं है । पुनः प्रजापति के पास जाकर प्रणाम कर अपने अनुभव को बताया । प्रजापति ने उस स्वप्न पुरुष को अनात्मा ही बताया व कहा वह आत्मा नहीं है, जो विकारी विनाशी है । तुम अभी यहाँ बत्तीस वर्ष और विचार रूपी तप करते हुए वास करो मैं तुम्हारे लिये इस आत्मा की पुनः व्याख्या करूँगा । इन्द्र ने वहाँ बत्तीस वर्ष प्रजापति की आज्ञा पाकर वास किया, तब उसने प्रजापति से कहा

-

९६ वर्ष बाद सुषीप्ति अबस्था द्वारा आत्म दर्शन

हे इन्द्र ! जिस अवस्था में यह सोया हुआ व्यक्ति दर्शन वृत्ति से रहित और स्वप्न का अनुभव भी नहीं करता हुआ जो केवल आनन्द का अनुभव करता है वह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है और यह ब्रह्म है । यह सुनकर शान्त चित्त से इन्द्र प्रजापति को प्रणाम करते हुए देव नगरी की और चले ।

देव नगरी पहुँचने के पूर्व ही इन्द्र को अपने बुद्धि द्वारा जाने हुए आत्मा में संशय उत्पन्न हुआ कि इस अवस्था में तो मुझे मेरा ही अभाव प्रतीत होता है । वहाँ तो मैं यह भी नहीं जानता हूँ कि 'यह मैं हूँ' 'यह मैं नहीं हूँ' और न यह अन्य भूतों को ही जानता है । यह मानो सुषुप्ति में विनाशको प्राप्त हो जाता है । इसमें मुझे इष्ट फल दिखाई नहीं देता । इन्द्र ने पुनः प्रजापति के पास जाकर अपना अनुभव प्रकट किया । प्रजापति ने कहा हे इन्द्र ! यह बात तुम्हारी ठीक है 'मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा । आत्मा इससे भिन्न नहीं है । अभी तपस्यापूर्वक पांच वर्ष और यहाँ वास करो । इन्द्र ने वैसा ही किया ।

१०१ वर्ष बाद अनुभव रूप आत्मदर्शन

हे इन्द्र ! यह शरीर मरणशील है; यह मृत्यु से ग्रस्थ है, यह इस अमृत आत्मा को पहचानने का अधिष्ठान रूप द्वार है । बिना आत्मा की विद्यमानता को शरीर अनुभव नहीं किया जाता, इसलिये शरीर को आत्मानुभूति का अधिष्ठान कहा है । वैसे आत्मा ही सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान है एवं यह दृश्य मान जगत् आत्मा में उसी प्रकार प्रतीत हो रहा है जैसे मन्द अन्धकार में पड़ी हुई अधिष्ठान रस्सी में सर्प अध्यस्त है । हे इन्द्र ! जबतक जीवात्मा सशरीर रहता है, तबतक ही यह प्रिय, अप्रिय से ग्रस्त है । शरीर रहते कोई भी अज्ञानि, ज्ञानी प्रियता, अप्रियता से मुक्त नहीं हो सकता । बंगाली, उड़िया, व्यक्ति ब्रह्मज्ञानी हो जाने पर भी भोजन में भात को ही प्रधानता देंगे । और ज्ञानी पुरुष को शरीर से मुक्त हो जाने पर इसे प्रिय अप्रिय स्पर्श नहीं करता । जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में इसे मित्र-शत्रु समीपस्थ होने पर भी भान नहीं होता ।

हे इन्द्र ! यह आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष परम ज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है । वह उत्तम पुरुष है । उस अवस्था में वह हँसता, क्रीड़ा करता और स्त्री, बन्धु बान्धव, जातिजन के साथ रमण करता है । हवाई जहाज, ट्रेन, मोटर कार, रथ आदि साधन द्वारा या कभी पैदल यात्रा करता है और अपने साथ उत्पन्न इस शरीर को स्मरण न करता हुआ अर्थात् 'मैं देह हूँ' इस भाव को प्राप्त न होता हुआ सब और साक्षी भाव में स्थित हो विचरता है ।

हे इन्द्र ! जिससे यह चक्षु द्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है, उसके रूप ग्रहण के लिये नेत्रेन्द्रिय है । जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं इसे सूघूँ, वह आत्मा है । उसके गन्ध ग्रहण करने के लिये नासिका है । जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं यह शब्द बोलूँ, वही आत्मा है, उसके शब्दोच्चारण के लिये वाक् इन्द्रिय है । जो ऐसा जानता है कि मैं यह श्रवण करूँ, वही आत्मा है, उसके श्रवण करने के लिये श्रोत्र इन्द्रिय है, और जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ, वह आत्मा है । शुद्ध मन उसको जानने का दिव्यनेत्र है । वह आत्मा है, इस दिव्य चक्षु के द्वारा भोगों को देखता हुआ साक्षीभाव में रहकर रमण करता है ।

हे इन्द्र ! जो इस आत्मा को शास्त्र और आचार्य के उपदेशानुसार जानकर साक्षात्‌रूप से अर्थात् सोऽहम् रूप से अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगों को प्राप्त करलेता है ।

FFF

बृहदारण्यकोपनिषद्

(शुक्लयजुर्वेद की काण्वी शाखा के वाजसनेयि ब्राह्मण के अन्तर्गत है)

प्रथम अध्याय

चतुर्थ ब्रह्मण

देवताओं का पशु

ब्रह्म विद्या के द्वारा मनुष्य 'हम सर्व हो जायँगे ऐसा मानते हैं, सो उस ब्रह्म ने क्या जाना जिसने वह सर्व हो गया ? ॥९॥

पहले ब्रह्म ही था; उसने अपने को ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ' अतः वह सर्व होगया । उसे देवो में से जिस-जिसने जाना, वही तद्रुप अर्थात् ब्रह्मरूप हो गया । इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में सभी जिसने उसे जाना, वह तद्रुप हो गया । उसे आत्मा (सोऽहम्) रूप से देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना - 'मैं मनु हुआ और सूर्य भी ।'

उस इस ब्रह्म को जो भी इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सर्व हो जाता है । उसके पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है । और जो अन्य देवता की 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' । इस प्रकार उपासना करता है अर्थात् द्वैत भाव से उपासना करता है, वह नहीं जानता है । जैसे पशु मनुष्यों की कष्ट पाकर भी सेवा करते रहते हैं एवं मनुष्य उनकी सेवा का भोग करते रहते हैं । उसी प्रकार द्वैत भाव से उपासना करने वाला मनुष्य भी उन-उन देवताओं का पशु ही है; क्योंकि भेदोपासक अज्ञानियों द्वारा उन देवताओं को सुख की प्राप्ति होती है । सेवा करने वाला पशु यदि मनुष्य के यहाँ से चला जाता है तो उसकी सेवा के अभाव में मनुष्य दुःखी होता हैं, फिर उसके यहाँ के बहुत पशुओं का हरण हो जावे तो उसके दुःख का कहना ही क्या ? इसी प्रकार देवताओं को भी यह प्रिय नहीं लगता की उनकी मुफ्त सेवा करने वाला मनुष्य रूपी पशु ब्रह्मात्मतत्त्व को जाने । इसलिये जब इन्हें पता लगजाता है कि मेरा अमुक सेवक आत्मधर्म को अपनाने जा रहा है अर्थात् अपने स्वरूप को जानने जारहा है । अविवेक द्वारा अनादि कालिन पड़ी जड़-चेतन की ग्रन्थि को आत्मज्ञान प्राप्तकर छोड़ रहा है । तब वह देवता उसके मार्ग में बहुत उपद्रव मचाते हैं । वे देवता उस जिज्ञासु को शारीरिक रोग, पीड़ा उत्पन्न कर देता है या गृहस्थ जीवन में किसी प्रकार विघ्न रोग, मृत्यु करा देते हैं, या आचार्य के प्रति अश्रद्धा करादेते हैं । ताकि वह किसी भी प्रकार ब्रह्म आत्म एकत्व ज्ञान ग्रहण न करसके । क्योंकि वे अपने स्वार्थ की हानि होते हुए नहीं देख सकते हैं ।

- १-४-१०

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूति मुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँरताः ।।

- ईशोप. १२

जो मनुष्य विनाशशील देव पितरादि की उपासना करते हैं वे तो अज्ञान रूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते ही हैं किन्तु जो अविनाशी परमेश्वर को अनुभव किये बिना ही मैं ब्रह्म हूँ, मेरे लिये अज्ञानि की तरह वेद पालन कर्तव्य नहीं है और कर्तव्यकर्म से च्युत हो काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय मन में राग-द्वेष, आसक्ति युक्त जीवन व्यतीत कर रहे हैं । ऐसे व्यक्ति और भी अन्धकार में हैं । क्योंकि वे उच्छृङ्खल होकर विशेष पाप कर्म करने में प्रवर्त हो जाते हैं । इससे तो सकाम कर्मी ही श्रेष्ठ है, जो अधोगति से बच स्वर्ग- भोग तो कर सकेंगे ।

छोरतग्रन्थि जानि खगराया । विध्नअनेक करइ तब माया ॥
इन्द्री द्वार झरोखा नाना । तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥
आवत देखहिं विषय बयारी । तेहठिदेहिं कपाट उघारी ॥
ग्रन्थि न छुटि मिटा सो प्रकासा । बुद्धि विकलभइ विषय बतासा ॥
इन्द्रिन्य सुरन न ज्ञान सोहाई । विषय भोग पर प्रीति सदाई ॥

नित्यानित्य सत्यासत्य ज्ञान रहित मनुष्य पशु समान ही है । इस प्रकार आत्मज्ञान हीन व्यक्ति विनाशी देवी-देवता का उपासना करके महान् से महान् पुण्य कर्म कर भी लेता है तो भी उसका वह पुण्य कर्म फल भोगोपरान्त अन्त में क्षीण हो ही जाता है । अतः मुमुक्षुको अविनाशी आत्मा की ही उपासना करना चाहिये । जो लोग सद्गुरु शरण लेकर श्रद्धा, विश्वास सहित आत्मा की उपासना करते हैं, देवता फिर उन्हें पतित नहीं कर सकते । अन्यथा उन मूर्खों का धन देवता ही लूटा करते हैं । जैसे पशु द्वारा प्राप्त दुग्ध, अन्नादि सुन्दर पदार्थों का मनुष्य सेवन करते हैं, किन्तु पशुओं को तो बोझा ढ़ोना डन्डे खाना,भुख-प्यास में तड़फना या हरा-सुखा तृण, खाना ही हिस्से में रहता है । उसी प्रकार इन देवताओं की उपासना करने से वे उसका आनन्द भोग करते हैं । उनके भोग का हिस्सा निकालने की प्रथा सब जानते हैं । द्वैत भाव द्वारा उपासना के परिणाम स्वरूप 'द्वितीया द्वै भयं भवति' जीव को जन्म-मृत्यु रूप महान् कष्ट भोगना ही हिस्से में आता है । क्योंकि कर्तापन के अभिमान द्वारा ही समस्त उपासना एवं कर्म होते हैं और उस कर्तापन के कारण जन्म-मरण दुःख भोगनाही पड़ता है ।

तृतीय अध्याय

अष्टम ब्राह्मण

तद वा एतदक्षरं गार्ग्यद्रष्टं, द्रष्ट्रश्रुतं, श्रोत्र मतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्ट्र नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥

- ३/८/११

गार्गि = हे गार्गि ! **तद** = वह, **वा** = निश्चय करके, **एतद्** = यह, **अक्षरं** = अक्षर परब्रह्म, **अदृष्टम्** = दृष्टि का विषय नहीं है (किन्तु) **द्रष्ट** = द्रष्टा है । (अर्थात् दर्शन का विषय object नहीं परन्तु विषयी = subject है) **अश्रुतम्** = श्रवण का विषय नहीं है (किन्तु) **श्रोतृ** = श्रोता है (अर्थात् शब्द का ज्ञाता, प्रकाशक है) **अमतम्** = मनन का विषय नहीं है (किन्तु) **मन्तृ** = मन्ता है (क्योंकि वह मति स्वरूप अर्थात् **ज्ञप्ति** = ज्ञान स्वरूप है) **अविज्ञातम्** = ज्ञान का विषय नहीं (परन्तु) **विज्ञातृ** = विज्ञाता अर्थात् सबका प्रकाशक है । **अतः** = इससे (स्वयं प्रकाश चेतन से) **अन्यत्** = भिन्न = दूसरा कोई, **दृष्ट** = द्रष्टा (ज्ञाता = प्रकाशक) **न** = नहीं, **अस्ति** = है, **अतः** = इससे, **अन्यात्** = भिन्न, **श्रोतृ** = श्रोता (शब्दका प्रकाशक) **न** = नहीं, **अस्ति** = है, **अतः** = इससे, **अन्यत्** = भिन्न, **मन्तृ** = मन्ता (मनन क्रिया का प्रकाशक) **न** = नहीं, **अस्ति** = है, **अतः** = उससे, **अन्यत्** = अन्य कोई, **विज्ञातृ** = विज्ञाना ज्ञेय पदार्थों का प्रकाशक **न** = नहीं, **अस्ति** = है, **गार्गि** = हे गार्गि ! **खलु** = निश्चय करके, **एतस्मिन्** = इस, **अक्षरे** = अक्षर परब्रह्म में, **नु** = नहीं, **आकाशः** = आकाश (संसार) **ओतः** = ओत, **च** = और, **प्रोतः** = प्रोत है अर्थात् समस्त जगत् ब्रह्म में अध्यस्त है । यह शुद्ध ब्रह्म ही सबका अधिष्ठान है ।

द्वितीय अध्याय

पञ्चम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संबाद; अमृतत्व के साधन रूप परमात्मा तत्त्व का उपदेश ।

महर्षि याज्ञवल्क्यजी की दो पत्नियाँ थी । मैत्रेयी तथा कात्यायनी । उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी विदुषी थी और कात्यायनी साधारण स्त्रियों की-सी बुद्धि वाली थी ।

एक बार महर्षि याज्ञवल्कय ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा मैं इस गृहस्थाश्रम से संन्यास लेना चाहता हूँ । अतः मैं तेरी अनुमती लेना चाहता हूँ । वह जो धन है उसका मैं कात्यायनी के साथ तेरा बँटवारा करदेना चाहता हूँ ।

मैत्रेयी ने कहा भगवन् ! यदि यह धन सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाये तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ , अथवा नहीं ? याज्ञवल्कय ने कहा 'नहीं' भोग सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा । धन से अमृतत्व की आशा करना आकाश में बाग लगाने जैसा असम्भव कार्य है ।

मैत्रेयी ने कहा, 'जिससे में अमर नहीं हो सकती उन भोगों को लेकर मैं क्या करूँगा ? श्रीमान् ! जो कुछ अमृतत्व का साधन आप जानते हैं वही मुझे बतलावें ।

उन याज्ञवल्कयजी ने कहा, धन्य ! अरी मैत्रेयी, तू पहले भी मेरी प्रिया रही है, और इस समय भी मुझे प्रिय लगने वाली ही बात कर रही है । अच्छा आ बैठजा; मैं तेरे प्रति उस अमृत्व की व्याख्या करूँगा । तू व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्यों के अर्थ का चिन्तन करना ।

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ।

न वा अरे जायायैः कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ।

न वा अरे पुत्रणां कामाय पुत्राः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ।

न वा अरे वित्तस्त कामाय वित्तं प्रियां भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियां भवति ।

न वा अरे पशुनां कामाय पशवः प्रियाभवत्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवति ।

न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियां भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति ।

न वा अरे क्षत्रस्य कामायक्षत्रं प्रियां भवत्यात्मानस्तु कामाय क्षत्रं प्रिया भवति ।

न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रियां भवत्यात्मानस्तु कामाय लोकाः प्रियां भवति ।

न वा अरे देवानां कामाय देवा प्रियां भवत्यात्मानस्तु कामाय देवा प्रिया भवति ।

न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रियां भवत्यात्मानस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवति ।

न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवत्यात्मानस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवति ।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं पिय्रं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्व प्रियां भवति ।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय ।

आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदम् सर्वं विदितम् ॥६॥

उन्होंने कहा - अरे मैत्रेयी ! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिये पति स्त्री को प्रिय नहीं होता, अपने प्रयोजन के लिये ही पति प्रिय होता है । स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिय नहीं होती, अपने प्रयोजन के लिये ही स्त्री प्रिया होती है । पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने प्रयोजन के लिये ही पुत्र प्रिय होते हैं । धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है । ब्राह्मण, क्षत्रि, वैश्य,, छुद्र के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण, क्षत्रि, वैश्य, छुद्र प्रिय नहीं होते हैं अपने प्रयोजन के लिये ही ब्राह्मण, क्षत्रि, वैश्य, छुद्र

प्रिय होते हैं । देवताओं के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नहीं होते; अपने प्रयोजन केलिये ही देवता प्रिय होते हैं । प्राणीयों के प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय नहीं होते बल्कि अपने ही प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय होते हैं । हे मैत्रेयी ! सब इसी प्रकार अपने-अपने प्रयोजन के लिये ही एक दूसरे को प्यार का अभिनय करते हैं । सब के प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, बल्कि अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं । अरी मैत्रेयी ! यह आत्मा अपना आप ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है । मैत्रेयी ! इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से ही जीव अखण्डानन्द की प्राप्त होता है । आत्मज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति पाने का अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

जाति भेद आत्मा में मिथ्या

ब्राह्मण जाति उस व्यक्ति को परास्त कर देती है, जो बाह्मण जाति को आत्मा से भिन्न जानता है । क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती हे जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न जानता हे । वैश्य जाति उसे परास्त कर देती है जो वैश्य जाति को आत्मा से पृथक् जानता है । छुद्र जाति उसे परस्त कर देती है, जो आत्मा से भिन्न छुद्र जाति को देखता है । लोक, देवगण, भूतगण, ये उन्हें परास्त कर देते हैं जो इन्हें आत्मा से पृथक् जानता है । अतः सभी उसको परास्त कर देते हैं जो आत्मा से सबको पृथक् देखता है । यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और ये सब जो कुछ भी चराचर विश्व दृश्यरूप दिखाई पड़ता, है अनुभव में आता है, व्यवहार में आता है यह सब आत्मा ही है ।

जिस प्रकार जल में डाला हुआ नमक का डला जल में ही घुल-मिल जाता है, उसे जल से निकालनेके लिये कोई समर्थ नहीं है । (यहां हाथ-से ढूंढ़ने से मतलव है विज्ञान क्रिया द्वारा नहीं) तथा जहाँ से भी उस जल को लिया जायगा वह जल नमकीन ही जान पड़ता है । हे मैत्रेयी ! उसी प्रकार यह परमात्म-तत्त्व अनन्त, अपार और विज्ञान घन ही है । यह इन (सत्य शब्द वाच्य) भूतों में प्रकट होकर, उन्हीं के साथ देह मर जाने पर अदृश्य हो जाता है । देहेन्द्रिय भाव से मुक्त होने पर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती । हे मैत्रेयी ! ऐसा तू निश्चय जान ।

जहाँ अविद्यावस्था में द्वैत-सा होता है वही अन्य-अन्य को सूँघता है,

अन्य-अन्य को देखता है, अन्य-अन्य को सुनता है, अन्य-अन्य को अभिबादन करता है । अन्य-अन्य को जानता है; किन्तु जहाँ इसके लिये सब एक मात्र आत्मा ही होगया है, वहाँ किसे, किससे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे श्रवण करे, किसके द्वारा किसे अभिबादन करे, किसके द्वारा किसे मनन करे, और किसके द्वारा किसे जाने ? जिसके द्वारा इन सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने ? अरी मैत्रेयी ! विज्ञाता को किसके द्वारा जाने ? वह स्वयं ही परमात्मा है ?

यह नेति-नेति इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अगृाह्य है । हे मैत्रेयी ! उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता, अशीर्य है - उसका विनाश नहीं होता; अस‘ है – वह आसक्त नहीं होता । अबद्ध है – वह व्यथित और क्षीण नहीं होता । हे मैत्रेयी ! विज्ञाता को किसके द्वारा जाने ? यह इतना ही अमृतत्व है यह निश्चय जानें ।

पश्चम अध्याय

द्वितीय ब्राह्मण

‘द- द- द’

अपने कल्याणार्थ देव, मनुष्य और असुर इन तीनों पुत्रों ने पिता प्रजापति से उपदेश लिया । प्रजापति ने देवों को ‘द’ का उपदेश दिया व पूछा समझगये क्या ? देवताओं ने कहा ‘समझ गये’; आपने हमसे ‘दमन करें’ ऐसा कहा । अर्थात् हम भोग प्रधान देवों को इन्द्रियों का दमन करना चाहिये ।

मनुष्यों ने उपदेश के लिये प्रार्थना की तब प्रजापति ने पूर्ववत् उन्हें भी ‘द’ का उपदेश किया व पूछा समझगये क्या ? तब मनुष्यों ने कहा ‘‘समझगये’’ कि हम कर्म प्रधान मनुष्य मनुष्यों को असमर्थ लोगों के प्रति दान करना चाहिये ।

फिर प्रजापति से असुरों ने भी उपदेश की याचना की । उन्हे भी प्रजापतिने ‘द’ का उपदेश किया व पूछा ‘‘समझगये’’ तब असुरों ने कहा ‘‘समझगये’’ आपने हम से कहा कि क्रोध एवं हिंसा प्रधान असुरों को जीवों पर दया करना चाहिये ।

अतः अपने कल्याण के लिये हम सभी पाठकों, साधकों एवं गृहस्थियों

को दम, दान और दया को सीखना चाहिये ।

षष्ठ अध्याय

चतुर्थ ब्राह्मण

सन्तानोत्पति विज्ञान

चराचर समस्त भूतों का रस-सार अथवा आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का रस, जल है, जल का रस - उस पर निर्भर करने वाली औषधियाँ है । औषधियों का रस-सार पुष्प है, पुष्पों का रस फल है, फल का रस-आधार पुरुष है, पुरुष का रस सार, वीर्य, शुक्र है । प्रसिद्ध प्रजापति ने विचार किया कि इस शुक्र की उपयुक्त प्रतिष्ठा के लिये कोई आधार चाहिये । इसलिये उसने स्त्री की सृष्टि की और उसके अधोभाग योनि द्वार के सेवन का विधान किया । इस के लिये प्रजापति ने प्रजननेन्द्रिय को उत्पन्न किया । अतएव धर्म मर्यादित स्त्री पुरुष संभोग सम्बन्ध से घृणा नहीं करना चाहिये । इस ब्राह्मण का आरम्भ इच्छानुसार सदगुण युक्त सन्तान उत्पन्न करने, सर्वथा न उत्पन्न करने तथा संयमयुक्त जीवन निर्माण करने की युक्ति बतलाने के लिये किया जाता है । विषय भोगियों के लिये इस में अधिकार नहीं है । मन्थाख्य कर्मकर्ता प्राणदर्शी पुरुष का ही इनमें अधिकार है । और इस विधान का दूसरा कारण यह है कि स्वेच्छाचारिता का निरोध हो । अरुण के पुत्र विद्वान उद्दालक ऋषि ने कहा कि बहुत से ऐसे मरण धर्मा, नामके ब्राह्मण हैं जो मैथुनविज्ञान से अपरिचित होकर भी मैथुन-कर्म में आसक्त होते हैं उनकी परलोक में दुर्गति होती है । (इससे अशास्त्रिय तथा अबाध मैथुन-कर्मका पाप हेतुत्व सूचित किया गया है)

ब्रह्मचर्याश्रम के बाद ग्रहस्थ में आने की इच्छा होतो ब्रह्मचारी को चाहिये कि वह स्वेच्छाचारी न रहे ।

गृहार्थी सदृशी भार्यां मुद्वहेदजुगुसिताम् ।
यवी यसी तु वयसा तां सर्वणामनु क्रमात् ।।

- भागवत : ११/१७/३९

वह अपने अनुरूप एवं शास्त्रोक्त लक्षणों से सम्पन्न कुलीन कन्या से विवाह करें । वह अवस्था में अपने से छोटी अपने ही वर्ण की होनी चाहिये । (यदि

काम वश अन्य वर्ण की कन्या से विवाह करना है, तो क्रमशः अपने से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है ।

ऋतु कालभिगमी स्यात्यवदारनिरतः सदा ।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राक्षमे वसन ।।

- मनुस्मृति : ३-५०

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश्य है ।

जो केवल रात्रि को सहवास करते हैं वह ब्रह्मचारी है, दिनों में संभोग करने वाले अपने प्राणों की ही क्षति करते हैं ।

ऋतु काल की तीन रात बीत जाने पर पत्नी स्नान करके शुद्ध हो जाये, तब स्त्रियों में मेरी यह पत्नी लक्ष्मी के समान है, इसलिये निर्मल वस्त्र पहने हुए है, यह विचार कर उस यशस्विनी पत्नी के समीप जाकर हम दोनों सन्तानोत्पादन के लिये मैथुन क्रिया करेंगे कहकर उसे मैथुन क्रिया के लिये आमन्त्रण करे । लज्जा हठ अथवा भयवश स्त्री यदि मैथुन-धर्म के लिये अस्वीकार करे तो उसे हर प्रकार के प्रलोभन देकर मैथुन क्रिया के लिये प्रसन्न करे । "**इन्द्रियेण ते यशसा यश आदधमी**" इस मन्त्रपाठ पूर्वक उपगत होने से पत्नी निश्चय ही यशस्विनी-पुत्रवती होती है ।

इस प्रकार अपनी स्त्री के ऋतुकालके तीन दिन पश्चात् विद्वान सुन्दर भक्त पुरुष प्राप्त करने के उद्देश्य से पत्नी से चौथी रात्रि को मिले स्त्री भी पूर्ण प्रसन्न एवं काम क्रीड़ा को प्रसन्नता से स्वीकार करती हो । जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो उस समय स्त्री पुरुष दोनों स्थिर और एक दूसरे का मुख मिला हो, नासिका से नासिका नेत्रों से नेत्र अर्थात् एकदम सीधे शरीर अत्यन्त प्रसन्न चित्त रहे, हिले डुले नहीं । पुरुष अपने शरीर को ढ़ीला छोड़े और स्त्री वीर्य प्राप्ति हेतु उस समय अपान वायु को ऊपर की और खीचें । याने योनि को संकुचित अवस्था में करें ताकि उचित गर्भधान हो सके । फिर एक घन्टे पश्चात् दोनों स्नान करे, एक घन्टे से पूर्व ठन्डे पानी को स्पर्श तक न करें न भूमीपर पैर ही रखें । जितनी देर वीर्य पात होने के पश्चात् मिले रहना चाहिये मिले रहे एक दम अलग न हो । उसी समय पुरुष स्त्री

के पूरक तत्त्व आपस में शरीर में प्रवेश करते हैं । उसी कारण देखा गया है कि शादी के बाद स्त्री-पुरुष में तेज, कान्ति बल, स्वास्थ्य लाभ परिवर्तन हो जाता है । अलग होने के बाद गरम किया ठण्डा केसर, सोंठ, असगन्ध इलायची, सफेद सालम मिश्री मिला दुग्ध दोनों यथा इच्छा पीवें । व फिर अलग-अलग बिस्तर पर स्नान कर लेट जावें कमसे कम मैथुन के बाद ३ घन्टे अवश्य सोना चाहिये जिससे कि शरीर की कमजोरी की पूर्ती हो सके ।

फिर एक माह तक मैथुन न करे । अगले माह यदि स्त्री ऋतुकाल में रजस्वला न हो तो फिर बच्चे होने तथा उसके तीन माह बाद ही पुनः मैथुन करें । अगर गर्भाधान नहीं हुआ रजस्वला अपने समय पर होगई तो पुनः उसी प्रकार सम्बन्ध करें । यही उत्तम बलवान सन्तान प्राप्ति की वेदोक्त विधी है । अगर इन वेदोक्त नियमों का उल‘न किया तो सन्तान निरोगी नहीं होगी ।

अगर किसी कारण गर्भ निरोध की जरूरत हो तो उस समय ‘**इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे**’ इस मन्त्र का जाप करें और फिर जब इच्छा हो कि पत्नी गर्भवति हो तो ‘**इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि**’ इस मन्त्र का पाठ करे । इससे वह निश्चय ही गर्भवती हो जायगी ।

ऋतुमति पत्नी को तीन रात्रि पृथक् ही निवास करना चाहिये । तथा शयन करना चाहिये । किसी को स्पर्श भी नहीं करना चाहिये । याने पूर्णतया आराम करें सतचर्चा, हरिचर्चा शास्त्र अवलोकन ही करे । समाप्त होने पर स्नान करने के बाद ही गृह कार्य में प्रवेश करें ।

जो पुरुष चाहता है कि मेरा पुत्र गौरवर्ण हो, एक वेद का अध्ययन करने वाला हो और पूरे सौ वर्षों तक जीवत रहे उसको दूध-चाँवल की खीर बनाकर उसमें घी मिलाकर पत्नी सहित खाना चाहिये ।

जो कपिल वर्ण, दो वेदों का अध्ययन करने वाला और पूर्णायु पुत्र चाहता है, उसको दही में चाँवल पकाकर पत्नी सहित खाना चाहिये । जो श्याम वर्ण, रक्त नेत्र, वेद त्रयी का अध्ययन करने वाले पूर्णायु पुत्र की इच्छा करता है, उसे जल में चाँवल पकाकर घी मिलाकर पत्नी सहित खाना चाहिये ।

तदन्तर पति अपनी सन्तान उत्पत्ति की कामना के अनुसार पत्नी के साथ

उचित भोजन जब करके शयन के समय बुलाकर कहे कि ''देखो मैं प्राण हूँ और तुम प्राण रूप मेरे अधिन वाक हो । मैं आकाश हूँ तुम पृथिवी हो । अतएव आओ तुम-हम दोनों मिलें जिससे हमें पुत्र सन्तान और तदनुगत धन की प्राप्ति हो ।

जो चाहे कि उसे पूर्ण आयुवाली विदुषी कन्या हो तो तिल-चाँवल की खीचड़ी बनाकर पत्नी सहित खाना चाहिये ।

जो चाहता हो कि मेरा पुत्र महान् विद्वान सुन्दर भाषी पण्डित् सम्पूर्ण वेदों का जानने वाला हो तो उन्हें उड़द-चावँल की खीचड़ी पकाकर उसमें 'अक्षन्' अथवा 'ऋषभ' नामक बलवीर्य वर्द्धक औषधि मिलाकर घृत सहित पति-पत्नी दोनों भोजन करें ।

यदि कभी अपनी पत्नी के साथ किसी अन्य दुराचारी व्यक्ति संभोग सम्बन्ध हो जाय और उसे दण्ड देना हो तो पहले कच्ची मिट्टी के बरतन में अग्नि स्थापन करके समस्त कर्मों को विपरीत रीति से करे और कुछ सरके तिनकों के अग्रभाग को घी में भिगाकर विपरीत क्रम से ही उनका होम करे । आहुतिके पहले '**ममसमद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसौ**' आदि मन्त्रों का पाठ करके अन्त में प्रत्येक बार 'असौ' बोलकर उसका नामले । इस प्रकार करने से वह सदाचारी बहुत पुण्यसे स्खलित होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है । यदि ऐसा भी न कर सके तो वह अपनी पत्नी के ऋतुकाल के बाद उसे पूर्ण पवित्र रूप में स्वीकार करले, किन्तु उसका परित्याग न करें । द्रोपदी, कुन्ती इसमें प्रमाण सर्ब विदित ही हैं ।

FFF

गर्भोपनिषद्

गर्भ की उत्पत्ति एवं वृद्धि के प्रकार

पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पाँच भूतों से रचित होने के कारण यह शरीर पञ्चात्मक है । इस शरीर में जितना कठिन तत्त्व है वह पृथ्वी है; जो द्रव है वह जल है, जो उष्ण है वह तेज है, जो समस्त शरीर में संचार करता है, वह वायु है, जो रिक्त स्थान है, वह आकाश है । इनमें पृथ्वी धारण करती है, जल

एकत्रित करता है, तेज प्रकाशित करता है, वायु अवयोवों को यथा स्थान रखता है, आकाश अवकाश प्रदान करता है ।

खाये पीये अन्न, जल, तेज से शरीर में रस बनता है । रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से स्नायु, स्नायु से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र ये सात धातुएँ उत्पन्न होती है ।

पुरुष के शुक्र और स्त्री के रक्त संयोग से गर्भ धारण होता है । ये सब धातुएँ हृदय में रहती है, हृदय में अन्तराग्नि उत्पन्न होती है, अग्नि स्थान में पित्त, पित्त के स्थान में वायु और वायु से हृदय का निर्माण सृजन क्रम से होता है ।

पिता के शुक्र की अधिकता (**X+Y**) से पुत्र, माता के रुधिर की अधिकता से (**X+X**) पुत्री तथा शुक्र और शोणीत दोनों के समान होने से नपुंसक सन्तान पैदा होती है । व्याकुल चित होकर समागम करने से अंधी, कुबड़ी, बौनी, खौड़ी सन्तान उत्पनन्न होती है । परस्पर वायु के संघर्ष से शुक्र दो भागों में बहकर सूक्ष्म हो जाता है, उससे युग्म (जुड़वा) सन्तान उत्पन्न होती है ।

ऋतु काल में सम्यक् प्रकार से गर्भाधान होने से एक रात्रि में शुक्र शोणित के संयोग से कलल बनता है । सात रात में बुद्बुद् बनता है । पन्द्रह दिन में उसका स्थूल आकार बनता है । एक माह में कठिन होता है । दो महीनों में वह सिर से युक्त होता है । तीन महीनों में पैर बनता है । चौथे महीने में पैर की हड्डीयों तथा पेट, कटि प्रदेश तैयार होता है । पांचवे महीने पीठ की रीढ़ तैयार होती है । छठे महीने मुख, नासिका, नेत्र और श्रोत्र बनते हैं । सातवें महीने में जीव को भूख प्यास लगता है । आठवें महीने पूर्व एक सौ जन्म का स्मरण होता है, और जीव पश्चाताप करता है कि जिन-जिन परिवारों व्यक्तियों के लये मैंने जो-जो पाप कर्म किये उनका फल मैं अकेला भोग रहा हूँ और वे सब मुझे अकेला छोड़ अपना-अपना घर परिवार बनाकर आनन्द से जीवन व्यतित कर रहे हैं । वहाँ जीव परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे मुक्ति दाता ! हे नारायण ! मुझे इस नरक से बाहर कीजिये अब मैं केवल आपको ही प्राप्त करने का साधन करूँगा । आप मुझे मुक्ति मार्ग बतलावें । तब अन्तर्यामि परमात्मा इसे सोऽहम् महामन्त्र प्रदान करते हैं और यह नव मास में गर्भ से बाहर उसी सोऽहम् मन्त्र के साथ उत्पन्न होता है । सोऽहम् मन्त्र का अर्थ सद्गुरु

द्वारा ही प्राप्त होता है ।

FFF

श्रीनृसिंहोत्तर तापनीयोपनिषद्

नवम खण्ड

(प्रणव के द्वारा आत्मा को जानकर साक्षीरूप से स्थित होने की विधि)

ॐ यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है । यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् इन परमात्मस्वरूप ॐ कार की ही उपव्याख्या - महिमा का विस्तार है, अतीत, वर्तमान और अनागत - इन तीनों काल में होने वाला यह सारा जगत् ॐ कार ही है । तथा इन तीनों काल से जो अतीत एवं जगत् से भिन्न कोई तत्त्व है, वह भी यह प्रणव ॐकार ही है । निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है । तथा इस आत्मा की 'ओम' इस नाम से अभिहित ब्रह्म के साथ एकता है और यह आत्मा भी ब्रह्म है ।

उपद्रष्टा अर्थात् अपने समीप से समीप रहकर देखने वाला साक्षी तथा अनुमन्ता याने अपने में ही अध्यस्त प्राण और बुद्धि आदि को संनिधानमात्र केवल अनुमति देनेवाला यह आत्मा 'सिंह' अर्थात् बन्धन नाशक परमात्मा ही है । चित्स्वरूप ही है, निर्विकार है और सर्वत्र साक्षीमात्र है । अतएव द्वैत की सिद्धि नहीं होती; केवल आत्मा ही सिद्ध होता है । एकमात्र आत्मा की ही सत्ता प्रमाणित होती है एवं अनुभव में आती है । आत्मा अद्वितीय है । उससे भिन्न किसी दूसरी वस्तु की सत्ता नहीं है । माया से ही अन्य वस्तु की प्रतीति-सी होती है । निश्चय ही वह उपद्रष्टा अनुमन्ता रूप से बताया गया, यह आत्मा साक्षात् परमात्मा ही है । यह माया ही सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च के रूप में भासित होती है । यह माया ही प्राज्ञ में अविद्यारूप से स्थित होकर उसके (आत्मा) स्वरूप पर आवरण डालती है । वह सम्पूर्ण जगत् के रूम में भासित होती है । आत्मा तो विशुद्ध परमात्मा ही है । यद्यपि यह माया नित्य निवृत्त ही है, ढूँढ़ने पर कहीं भी इसकी आत्मा से पृथक् सत्ता उपलब्ध नहीं होती, यह माया परमात्मा में रज्जु सर्प की तरह अध्यस्त मात्र है । प्रकाश हो जाने पर जैसे रज्जु ही एकमात्र भासित होती है, ठीक् उसी प्रकार अविद्या

अज्ञान के नाश हो जाने पर ब्रह्म ही एकमात्र सत्तारूप से प्रतीत होने लगता, है किन्तु अविवेकी पुरुषों को यह आत्मा की तरह माया सत्य ही प्रतीत होती है, किन्तु यह आत्मा ही स्वयं माया और अविद्या बन जाती है । माया के कारण ही जीव और ईश्वर के भेद की कल्पना की गई है । व्यष्टि शरीर में अभिमान करने वाले चेतन का नाम ही जीव कहलाता है । और समष्टि शरीर का अभिमानी होने से वही चेतन सर्वव्यापि ईश्वर कहा गया है । इस ब्रह्म स्वरूप के अज्ञान के कारण ही सर्वमय होते हुए भी अपने को अल्प शरीर का अभिमानी रखने के कारण ही जीव संज्ञा को प्राप्त होते हैं । यह सब माया द्वारा ही होता है । अतः जीव, ईश्वर, जगत् माया कृत होने से जगत् और तत् सम्बन्धी व्यवहार सब-के-सब मिथ्या ही है । यह आत्मा ही अद्वितीय सत्य है । सत- चित्- आनन्द इन लक्षणों द्वारा ही इसका ज्ञान होता है । इस ब्रह्म में उससे भिन्न दूसरी किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता । ब्रह्म में अविद्या भी नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान स्वरूप है । स्वयंप्रकाश है सबका साक्षी, निर्विकार और अद्वितीय है । यह सत स्वरूप ब्रह्म अपने शरीर में आत्मा रूप से स्थित आनन्दघन, चित्घन एवं स्वतः सिद्ध है । वास्तव में कार्य रूप जगत् की सत्ता न होने से यह परमात्मा सृष्टि का कारण रूप भी नहीं है । जब समस्त जगत् मिथ्या ही है, तब उसे कारण स्वरूप कहना मिथ्या है । जगत् की सत्ता सिद्ध न होने से उसके कारण ईश्वर का भी सत्य सिद्ध होना नहीं पाया जाता । अतः कार्य की सत्ता न होने से यह परमात्मा कारण रूप भी नहीं है । यहाँ इस जगत् में जो कुछ भी है वह सन्मात्र है । जो सत् से भिन्न है वह असत् है । इस प्रकार सम्पूर्ण कल्पनाओं के साक्षी रूप से सत्य स्वरूप ब्रह्म की ही पहले से उपलब्धि होती है । इस आत्मा की सिद्धि के बिना किसी भी प्रकार की लौकिक या पारलौकिक सिद्धि नहीं होती है । निश्चय ही किन्ही अन्य प्रमाणों से इसकी सिद्धि नहीं होती । वही विष्णु, वही शिव और वही ब्रह्मा है । जैसे स्वप्न साथी ही स्वप्न नगर में नाना जीवों की तरह होता दिखाई पड़ता है इसी तरह जगत में वही अन्य सब कुछ बना है । वह सर्व व्यापक एवं सर्व स्वरूप है । अतएव नित्य शुद्ध है । उसके स्वरूप का कभी बाध नहीं होता । वह बुद्ध (ज्ञान स्वरूप) सुखरूप आत्मा है । आत्मा अपनी ही महिमा में स्थित सर्वथा निरपेक्ष एक मात्र साक्षी और स्वयं प्रकाश है ।

यह आत्म स्वरूप ब्रह्म ही जगत् का कर्ता है । यह द्रष्टा, निर्विकार अविद्या

रहित है, अन्धकार से सर्वथा पृथक् है । स्वयं प्रकाश, द्वैत रहित, अद्वितीय परमात्मा है । सर्वज्ञ, अनन्त और अभिन्न है । माया के कारण ही उसकी सदा सम्यक् प्रकार से उपलब्धि नहीं होती । माया व अज्ञान भी आत्मा में ही कल्पित होने के कारण आत्मा से भिन्न नहीं है । यह जो कुछ भी द्रष्टिगोचर हो रहा है, दिखाई पड़रहा है, सब सत्यरूप आत्मा ही है । जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सब आत्म में अज्ञानता के कारण रज्जु में सर्प की भ्राति अध्यस्त मात्र है । आत्मा व्यवहार में लाने योग्य स्थूल पदार्थ नहीं है उसे द्रष्टि द्वारा देखानहीं जा सकता है । इस आत्मा को विवेक शील पुरुष ही ज्ञान चक्षु द्वारा अपने में देख सकने में समर्थ हो सके हैं । वही सत्य है और उसे आत्मा में ही देखने का प्रयत्न करना चाहिंये ।

प्रजापति से देवताओं ने पूछा - वह नित्य, शुद्ध-बुद्ध एवं आत्म भूत तत्त्व क्या है ? प्रजापति ने कहा - ''वही आत्मा है । उस ब्रह्म का इस आत्मारूप होने में किसी भी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिये । यह आत्म ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण जगत् की रचना करता है । यह द्रष्टा का भी द्रष्टा, निर्विकार, साक्षी, नित्य, सिद्ध और अविद्या रहित ज्ञान स्वरूप है । क्योंकि यह सर्वत्र भीतर-बाहर एक रस है । यह स्वयं प्रकाश अज्ञान अन्धकार से रहित है ।

इतना उपदेश देकर प्रजापति ने देवताओं से पूछा - ''यह तो बताओ कि मेरे द्वारा उपदेश दिये हुए आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार हुआ कि नहीं ?'' तब देवताओं ने काहा - ''हमने आपके द्वारा बताये हुए आत्मा का साक्षात्कार तो किया; किन्तु वह अल्प व अव्यवहार्य (व्यवहार में नआने योग्य) है । यह सुनकर प्रजापति ने कहा - 'नहीं आत्मा अल्प नहीं है । वह सर्वत्र सबका साक्षी है । उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं । यह सुख-दुःख से रहित अद्वितीय परमात्मा है । 'तुम सब लोग आत्मा ही हो' । यह किसी के द्वारा प्रकाशित होने वाला नहीं है; क्योंकि यह स्वयं प्रकाश है । इतना प्रजापति ने कहकर फिर प्रश्न किया - क्या अब भी तुम्हें आत्म तत्त्व का दर्शन हुआ ? यदि हुआ है तो अद्वैत रूप से या द्वैत रूप से । देवताओं ने कहा - हमे तो उसका द्वैत रूप से ही दर्शन होता है । प्रजापति ने कहा - 'नहीं तुम्हें द्वैत रूप आत्मा का कभी दर्शन नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा अद्वितीय है और वह आत्मा तो तुम ही हो । वह तुमसे भिन्न नहीं है । यदि तुम्हे द्वैत दिखायी देता है तो तुम आत्मज्ञ नहीं हो क्योंकि यह आत्मा असंग है ।

अतः तुम्ही लोग स्वयंप्रकाश आत्मा हो । तुम स्वयं ही द्वैत रूप से भासित होते हो । वास्तव में अद्वैत आत्मा ही तुम हो । यह जो कुछ भी दिखाई देता है, मैं, तू, यह, वह, यहाँ, वहाँ सब सत्स्वरूप आत्मा ही है । यद्यपि यह आत्मा दृष्टि आदि का विषय न होने के कारण तुम इसे देख नहीं पाते, तथापि इस ब्रह्म को अपने आत्म रूप में जानो । वही यह सत्य है । आत्मा ब्रह्म ही है । ब्रह्म आत्मा ही है । निश्चय ही इस 'सोऽहम्' निष्ठा में संशय कभी मत करो । ब्रह्म एवं आत्मा में भेद समझना ही मृत्यु को प्राप्त होना है । देखिये श्रुति : '**द्वितीया द्वै भयं भवति**' द्वैत याने भेद ही भय अर्थात् मृत्यु का कारण है ।

यदि तुम्हें द्वैत दिखायी देता है तो तुम आत्मज्ञ नहीं हो । क्योंकि यह आत्मा अस' है । जो अस' है उसे द्वैत का दर्शन भी नहीं हो सकता ।

जो कुछ दिखाई देता है वह समस्त माया, तुम आत्मस्वरूप ब्रह्म में ही अध्यस्त है । और उस समस्त प्रपंच रज्जु में सर्प की भ्राँति ही है इस अध्यस्थ जगत् के अधिष्ठान तुम ही हो । अस्तु अधिष्ठान होने के नाते तुम्हें अध्यस्त माया प्रपंच से भयभीत नहीं होना चाहिये । तुम आत्मा से भिन्न किंचित् भी नहीं हो ।

यह ब्रह्म या आत्मा न शब्द है न श्रोत्र (कान) न स्पर्श है न त्वचा, न रूप है न नेत्र, न रस है न जिह्वा, न गन्ध है न घ्राण (नासिका) न वाक् है न वाणी अर्थात् न तो वाणी द्वारा बोलने योग्य है, न हाथ द्वारा ग्रहण करने योग्य है । न पैर द्वारा पहुँचने योग्य है, न उपस्थ द्वारा विषयानन्द के रूप में आनन्द ग्रहण करने योग्य है । न गुदा द्वारा त्याग करने योग्य है । यह आत्मा मन से न तो मनन करने योग्य है, न बुद्धि के द्वारा जानने योग्य है । अहंकार तथा चित्त का विषय भी नहीं है । प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पाँचों प्राणों का भी विषय नहीं है । वह न इन्द्रिय रूप है न विषय रूप, उसके न करण है न लक्षण है । वह असंग, निगुर्ण, निर्विकार, त्रिगुण रहति, तथा माया से शून्य है । वह 'तत्त्वमसि' द्वारा ही लक्षणा से जानने योग्य है । उस अद्वय तत्त्व को 'मैं ब्रह्म हूँ और यह मेरा स्वरूप है' इस प्रकार देखो ।

अथयोऽन्यां देवतांमुपासतेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः । -बृहदा. ९/४/१०

जो इस आत्मस्वरूप परमात्मा की अन्य देवता रूप में उपासना करते हैं

वे नहीं जानते है वे देवताओं के पशु है ।

प्रसिद्ध प्रजपति बोले - देवताओं ! क्या इस, आत्मा को तुमने देखा या नहीं देखा ? देवताओं ने कहा - देखा, वह विदित और अविदित से परे है । अहो ! यह माया कहाँ से चली गयी ? और कैसे इस स्वप्रकाश आत्मा में पहले यह रह सकी ? प्रजापति ने कहा - अरे ! उससे क्या ? क्या इस माया के विषय में न जानने से तुम्हारे द्रष्टा, साक्षी, स्वयंप्रकाश, आत्म स्वरूप में कोई न्युनता आ जाती है ? देवों ने कहा - नहीं कुछ भी हमारे स्वरूप में न्युनता नहीं होती । प्रजापति ने कहा - इस माया के लिये आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं, तुम स्वयं ही आश्चर्य रूप हो । क्योंकि तुम आत्म चैतन्य के आश्रित रहकर ही यह माया विचित्र कार्य करने की शक्ति पाती है । पर तुम अपने इस देवता रूप को आश्चर्य रूप मत मान लेना । क्योंकि स्वरूपभूत आत्मसत्ता से ही तुम माया की आश्चर्य रूपता में हेतु बनते हो । विकार को प्राप्त होकर नहीं । अतः सर्वदा एक रूप होने के कारण तुम्हे आश्चर्य रूप भी नहीं कहा जा सकता । देवताओं ने कहा - आप जैसा बताते हैं, वैसा ही हम अपने इस आत्मा का अनुभव करते हैं । हम केवल देखते ही हैं, फिर भी नहीं देखते; हम उसे कहकर बता नहीं सकते,क्योंकि वह वाणी का विषय नहीं है । प्रजापति देवताओं से यह अनुभव सुनकर प्रसन्न हो गये ।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानु शोचितुमर्हसि ॥

- गीता : २/२५

यह आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई दे ऐसा नहीं, जिसका विचार किया जा सके ऐसी भी नहीं ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

- गीता : ३/४२

शरीर से इन्द्रियाँ पर है, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है तथा बुद्धि से परे आत्मा है ।

नैतन्मनो विशति वागुत-चक्षुरात्मा

प्राणेन्द्रियाणि च यथा नलमर्चिषः स्वाः ।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽममुल
मथोक्तमाह यद्दते न निषेधसिद्धिः ॥

- भागवत : ११/३/३६

आत्म स्वरूप में मन, वाणी की गति नहीं है । नेत्र उसे देख नहीं सकते, और बुद्धि सोच नहीं सकती । पांचो प्राण (प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान) का भी विषय नहीं है । वह न इन्द्रिय है न विषय रूप, उसके न करण है न लक्षण है । वह अस‘ है । सत-रज तथा तम इन तीनों गुणों से पृथक् है । तथा माया से शून्य एवं उपनिषद्रों के द्वारा ही लक्षणा से जानने योग्य है । क्योंकि वह ज्ञान स्वरूप है, पदार्थ स्वरूप नहीं । वह उपलब्धि करने का विषय नहीं है । केवल उपलब्बद्धि स्वरूप अर्थात् नित्य प्राप्त तत्त्व है । और यह श्रुति का सिद्धान्त है कि नित्य प्राप्त तत्त्व की प्राप्ति, किसी साधन से नहीं हो सकती है । किन्तु प्राप्त होते हुए भी प्रतीत नहीं होती तब उसके प्राप्ति के लिये साधन यदि है तो केवल मात्र ज्ञान, अन्य साधन नहीं । ज्ञान द्वारा भी प्राप्ति नहीं होती बल्कि अनुभव ही होता है एवं अप्राप्त की भ्रान्ति दूर होती है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

- गीता : १३/१६

वह आत्म ब्रह्म समस्त प्रकाशित वस्तुओं का भी प्रकाश है । सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण, विद्युत् भी उसी की आंशिक शक्ति पाकर प्रकाशमान होते हैं । किन्तु वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है तथा अन्धकार माया से शून्य है । वह ज्ञान है । ज्ञान की वस्तु है । जैसे चीनी की वस्तु चीनी स्वरूप होती है, कड़वी नहीं । उसी प्रकार, वह ज्ञान की वस्तु, ज्ञान स्वरूप है ज्ञान के द्वारा श्रुति, स्मृति, उपनिषद्रादि के द्वारा लक्षणा से अवगत होकर ही जानी जा सकती है । जो सबके हृदय में ही विद्यमान है । किन्तु उसे ज्ञानी ही अपने ज्ञान नेत्र द्वारा सद्गुरु की कृपा से देख सकता है ।

विमुढ़ानानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः ।

- गीता : १५/१०

यतन्तो योगीनश्चैनं पश्य-त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य चेतसः ।।

- १५/११

अशुद्ध मनवाला, माया विमूढ़ित जीव उस आत्मा को यत्न करते हुए भी नहीं देख पाते जब कि ध्यान करते हुए योगी जन ज्ञान चक्षु द्वारा अपने ही अन्दर आत्मा रूप से स्थित हुआ जानलेते हैं । किन्तु मूर्ख लोग यत्न करते हुए भी उसे प्राप्त नहीं कर पाते व बार-बार जन्म-मृत्यु को ही प्राप्त होते रहते हैं । क्योंकि उनका मन शुद्ध न होने के कारण वो शुद्ध आत्मब्रह्म में, चैतन्य ब्रह्म में श्रद्धा न कर अनात्म वस्तु में अपनी श्रद्धा को अर्पित करते रहते हैं । वह उसी ब्रह्मकी पूजा है किन्तु वह मूढ़ता पूर्ण है ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्राम यन्सर्वभूतानि यन्त्रा रूढ़ानि मायया ।।

- गीता १८/६१

वह ईश्वर की देवी माया शक्ति द्वारा हरण किये हुए ज्ञान वाले अज्ञानि जीव कुम्हार के चाक पर रखे बर्तन की इस माया मय संसार में तरह भ्रमित होते रहते हैं ।

हे मुमुक्षुओं ! उस अद्वितीय आत्म तत्त्व को मैं वह हूँ 'सोऽहम्' 'अहंब्रह्मास्मि' । वह मेरा स्वरूप है । इस प्रकार ही जाने, इस प्रकार ही जान सकते हो, इसी प्रकार ही वह पूर्व में अन्य मुमुक्षुओं द्वारा जाना गया है और वही इसी प्रकार अब जानने योग्य है ।

'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

- श्वे. ६/१५

बस उस आत्म ब्रह्म को इसी प्रकार जानकर ही जीव जन्म-मृत्यु रूप संसार से पार हो सकता है । उसके लिये अन्य कोई न मार्ग है, न युक्ति है, न साधन है, और न ध्यान ही है ।

इस माया के लिये आश्चर्य करने की आवश्यतका नहीं यह तुम स्वयं ही इसके आत्म स्वरूप से अधिष्ठान हो और श्रुति का सिद्धान्त है कि अध्यस्त वस्तु अपने अधिष्ठान को किसी प्रकार क्षति नहीं पहुँचा सकती । माया ब्रह्म में अध्यस्त है ब्रह्म माया का अधिष्ठान है और वह तुम स्वयं हो । अतः माया तुम्हारे लिये किसी प्रकार क्षति स्वरूप नहीं हो सकती यह तब तक ही आश्चर्य स्वरूप प्रतीत होती है, जब तक जीव को अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का पूर्ण दृढ़ निश्चय ज्ञान नहीं हो पाता । स्वरूप बोध हो जाने पर फिर भ्रम नहीं रहता । अन्धकार में पड़ी रस्सी में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है कि यह सर्प है, किन्तु अध्यस्त सर्प क्या कभी उस रस्सी अधिष्ठान को डस या काट सकता है ? कदापि नहीं । क्योंकि वह सर्प रस्सी से पृथक् सत्ता वाला नहीं है । अन्धकार के कारण उत्पन्न भ्रम, प्रकाश होते ही उसी में लय हो जाऐगा । उसी प्रकार यह माया ब्रह्म में अज्ञान के कारण उत्पन्न सी प्रतीत हो रही है । किन्तु रज्जु को जैसे अध्यस्त सर्प हानि नहीं पहुॅचा सकता, उसी प्रकार यह माया अध्यस्त अपने अधिष्ठान ब्रह्म को क्षति नहीं पहुँचा सकती । ज्ञान हो जाने पर माया पृथक् से प्रतीत नहीं होती । अतः माया भ्रम तुम में ही अज्ञानता के कारण अध्यस्त है । ज्ञान होने पर माया शून्य हो जावेगी, माया तुम्हारी ही शक्ति पाकर विचित्र कार्य करती हुई सी प्रतीत होती है । जैसे जंगल में सूखे कटे वृक्ष में भूत, रज्जु में सर्प, सीप में चाँदि, आकाश में श्यामता, रेगिस्थान के बालुकणों में पानी प्रतीत होना, यह सब भ्रम हैं, स्वरूपतः नहीं । अध्यस्त प्रतीति अपने अधिष्ठान में कुछ परिवर्तन नहीं ला सकती है, जैसे बालु के कणों में जल की भ्रान्ति बालुको भिगो नहीं सकती, आकाश की श्यामता पानी को रंग नहीं सकती, रज्जु का सर्प डस नहीं सकता । इसी प्रकार यह माया भी अपने अधिष्ठान आत्मा को क्षति नहीं पहुँचा सकती और वह अधिष्ठान आत्मा परमात्मा, ब्रह्म तुम स्वयं हो यही निश्चय करो । वह आत्मा सब में सम्बद्ध है । इस दृष्टि से उसकी सर्वत्र गति है और सर्व व्यापक होने के कारण वह स्वयं कहीं नहीं आता जाता है । उसका आश्रय या कारण न होने से वह 'नास्ति' रूप है तथा सत्स्वरूप होने के कारण 'अस्ति' रूप है । जिसके संकोच और विकास से जगत् का प्रलय और सृजन होता है । प्राण रूप से वेदान्त वाक्यों की जो निष्ठा है तथा वाणी के लिये जो अगोचर है, वही सच्चिदानन्द परमानन्द स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, दूसरा नहीं हूँ ऐसा दृढ़ ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् हेतु है

अन्य भाव ही मृत्यु का साक्षात् हेतु है ।

FFF

सामवेदीय

महोपनिषद

द्वितीय अध्याय

शुकदेवजी को जनक द्वारा आत्मोपदेश

एक बार शुकदेव जी अपने पिता श्रीकृष्ण द्वैपायन के पास गये और प्रश्न किया कि मुनीश्वर ! यह जगत्-प्रपञ्च कैसे उत्पन्न हुआ ? किस प्रकार विलीन होता है ? यह क्या है, किसका है एवं कब हुआ ? कृपा करके मुझे बतलाईये ? तब व्यास जी ने शुकदेव को यथावत् सारी बातें बतलादी; किन्तु उन बातों के जानने पर शुकदेवजी को सन्तोष नहीं हुआ; क्योंकि यह उत्तर वह पूर्व से ही जानते थे, शास्त्र भी वही कहता है । जब शुक देव ने पिता की बातों का श्रद्धा से आदर नहीं किया तब व्यास जी ने कहा पुत्र ! मैं भी पूर्णतः इस तत्त्व को नहीं जानता हूँ । तू मिथला नगर के राजा जनक के पास जा वे तुझे इसका उपदेश कर सकेंगे ।

शुकदेव पिता की आज्ञानुसार राजा जनक के राज महल के द्वार पर पहुँचा और द्वारपाल के द्वारा राजा जनक के पास मिलने का अनुमति मांगि तब द्वारपाल सन्देश लेकर राजा जनक के पास गये व कहा कि महर्षि व्यास के पुत्र शुकदेव मुनि द्वार पर उपस्थित आपसे मिलना चाहते हैं । राजा जनक शुकदेव की श्रद्धा, जिज्ञासा एवं तितिक्षा की परीक्षा लेने के लिये आज्ञापूर्वक केवल इतना ही कहा उनसे कह दो वे वहीं ठहरें । इस के बाद राजा सातदिन चुपरहे, फिर सेवक से कहकर उन्हें राज महल के प्रा'ण में बुलवाया, फिर भी राजा उनके सम्मुख नहीं गये व सात दिन इसी प्रकार व्यतित हो गये । तब राजा ने उन्हें अन्तःपुर में बुलवाया । वहाँ भी सात दिन उन्हें व्यतीत होगये । अन्तःपुर में रानियों सुन्दर एवं युवतियों ने नाना प्रकार के भोजन तथा भोग्य पदार्थों के द्वारा शुकदेव जी का आदर सत्कार किया । किन्तु शुकदेव का मन किसी प्रकार विचलित न हुआ । जब राजा जनक ने शुकदेव जी के स्वभाव

कि इस प्रकार परीक्षा ली तब उन्हें अपने पास बुलाया, व आने का कारण पूछा। और राजा ने उन्हें प्रसन्न चित्त देख प्रणाम किया। उनका स्वागत करते हुए राजा ने उनसे कहा कि आपने अपने सांसारिक कृत्यों को निःशेष करदिया है इसलिये आप को सब मनोरथ प्राप्त है, ऐसी स्थिती में अब आपकी क्या अभिलाषा है ? गुरूवर ! मुझे शिघ्र ही ठीक- ठीक बतलाइये कि यह जागतिक प्रपञ्च कैसे उत्पन्न हुआ है और किस प्रकार विलीन होता है ? राजा जनक ने भी पिता व्यास की भाँति उनके प्रश्न का उत्तर दिया। तब शुकदेव ने कहा कि यह बात में पूर्व से जानता हूँ, पिताजी ने भी यही कहा, आपने भी यही कहा, तथा शास्त्र भी यही कहते हैं, कि मन के विकल्प से प्रपञ्च उत्पन्न होता है तथा मन के विकल्प नाश से ही उस प्रपञ्च का नाश हो जाता है। निन्दनीय संसार निःसार है यह निश्चित् है। तब हे महाभाग ! यह है क्या वस्तु ? मुझे सत्य बात ठीक से बतलाईये। जगत् के विषय में भ्रान्त हुआ मेरा चित्त केवल आप के द्वारा ही शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

राजा जनक ने कहा - शुकदेव ! तुम सुनो मैं तुम्हें अब वह ज्ञान कहता हूँ जो सबसे गोपनीय है एवं जानने पर शीघ्र ही मोक्ष देने वाला है। दृश्य जगत् है ही नहीं। यह बोध हो जाने पर मन की दृश्य-विषय से परिशुद्धि हो जाती है। जब यह बोध परिपक्व हो जाता है, तब उससे निर्वाण रूपी परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। वासनाओं का जो निःशेष परित्याग होता है, वही श्रेष्ठ त्याग है। उसी विशुद्ध अवस्था को साधुजनों ने मोक्ष कहा है। पुनः जो शुद्ध वासनाओं से युक्त हैं तथा जिनका जीवन अनर्थों से शून्य हैं एवं जिन्हें ज्ञेयतत्त्व ज्ञात है, महा बुद्धिमान शुकदेव जी ! वे पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। पदार्थ भावना की दृढ़ता ही बन्ध कहलाती है और ब्रह्मन् ! वासनाओं की क्षीणता ही को मोक्ष कहा जता है।

बिना तपः साधन के स्वभावतः ही जिनको जगत् के भोग अच्छे नहीं लगते, वे जीवन मुक्त कहलाते हैं। यथा समय प्राप्त होने वाले सुखों और दुःखों में अनासक्त हुआ जो न प्रसन्न होता है और न दुःखी होता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सभी रसों का त्याग कर चुका है जिसके लिये किसी भी रस में आसक्ति नहीं है, यथा समय समक्ष आ जाने वाले भोजन को आसक्ति रहित भाव से ग्रहण करता है वह जीवन्मुक्त है। जिसकी संसार के भोगों पर आसक्ति नहीं है वह जीवन्मुक्त है, जो मान-अपमान, हर्ष, अमर्ष (उद्वेग) भय, क्रोध, काम और कार्पण्य (शोक)

की दृष्टि से जिसका अन्तःकरण अछुता रहता है वह जीवनूमुक्त कहलाता है । जो राग द्वेष फलाफल धर्माधर्म की अपेक्षा न करके काम करता है । और आत्मा में ही रत रहता है वह जीवनूमुक्त है । जो आत्मा में ही पूर्णता का अनुभव करता है वह जीवनूमुक्त है ।

जो अहंकारमयी वासना को सहज ही त्याग करके अपने साक्षी भाव में स्थित रहता है । वह मन के सभी विषयों का भली प्रकार त्याग करने वाला जीवन्मुक्त कहलाता है । जिसकी दृष्टि सदा अन्तर्मुखी रहती है , जिसको न किसी पदार्थ की आकांक्षा होती है और न किसी पदार्थ की अपेक्षा, जो सुषुप्ति के समान स्थिति में विचरण करता है वह जीवनूमुक्त कहलाता है । जो सदा आत्मा में रत है, जिसका मन पूर्ण और पवित्र है, परम श्रेष्ठ शान्त अवस्था को प्राप्त कर जो संसार में किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता जो किसी के प्रति आसक्ति न रखता हुआ उदासीन विचरण करता है, वह जीवनूमुक्त कहलाता है । जिसका हृदयाकाश संवेद्य पदार्थों के द्वारा तनिक भी लिपायमान नहीं होता तथा चेतन संवित् ही जिसका स्वरूप है, वह जीवनूमुक्त कहलाता है । जो अंहभाव को छोड़कर मान और मत्सर त्याग करके निरुद्वेग और संकल्प हीन होकर कार्यकरता है वह जीवनूमुक्त कहलाता है । जो सर्वत्र स्नेह रहित होकर साक्षी के समान अवस्थित रहता है तथा बिना किसी इच्छा के कर्तव्य में लगा रहता है वह जीवनूमुक्त है । जिसने धर्म और अधर्म को, जगत् के चिन्तन को तथा समस्त इच्छाओं का अन्तःकरण से परित्याग करदिया है, वह जीवनूमुक्त कहलाता है । यह समस्त दृश्य प्रपंच जो देखने में आता है इसको जिसने भली भांति त्याग दिया है वह जीवनूमुक्त कहलाता है । चरपरे, खट्टे, नमकीन्, कड़वे, स्वादिष्ट तथा स्बादहीन जो एक समान समझकर खाता है वह जीवनूमुक्त कहलाता है । बुढ़ापा, मृत्यु, विपत्ति, राज्य और दारिद्र्य सब को रम्य मानकर जो उपभोग करता है वह जीवनूमुक्त है । धर्म और अधर्म सुख-दुःख तथा जन्म और मरण इनको जिसने हृदय से पूर्ण तथा त्याग दिया है वह जीवनूमुक्त है ।

जो समत्व पूर्ण तथा स्वच्छ बुद्धिसे उद्वेग और आनन्द से रहित होकर न शोक करता है और न उत्साहित होता है वह जीवनूमुक्त है । सारी कामनाओं, सारी इच्छाओं, समस्त शंकाओं और समस्त निश्चयों का जिसने मन से परित्याग कर

दिया है वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जन्म स्थिति और विनाश में, उन्नति तथा अवनति में सदा जिसका मन एक समान रहता है वह जीवन्मुक्त है । जो प्रारब्ध से प्राप्त उपभोगों का उपभोग करता है एवं किसी से आकांक्षा, अपेक्षा नहीं करता वह जीवन्मुक्त है । जिसने संसारका चिन्तन छोड़ दिया है जो कलावान् होकर निष्कल रहता है । चित्त के होते हुए भी निश्चित रहता है वह जीवन मुक्त कहलाता है । जो सम्पूर्ण अर्थजाल के मध्य व्यवहार करता हुआ उनसे उसी प्रकार निःस्प्रह रहता है जैसे परायाधन पुत्र, स्त्री, सम्पति के विषय में निःस्प्रह रहता है । तथा जो आत्मा में ही पूर्णता का अनुभव करता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

शरीक के काल कवलित होने पर वह जीवन्मुक्तावस्था को छोड़कर गतिहीन पवन के समान विदेहमुक्त अवस्था को प्राप्त होता है । विदेहमुक्त अवस्था में जीव की न उन्नती होती है न अवनती होती है और न उसका लय ही होता है । वह अवस्था न सत है न असत् और न दूरस्थ है । उसमें न अहंभाव है न परायाभाव है । विदेहमुक्ति गंभीर स्तब्धावस्था होती है । उसमें न तेज व्याप्त होता है और न अन्धकार । उसमें अनिर्वचनीय और अभिव्यक्त न होने वाला एक प्रकार का सत् अवशिष्ट रहता है । वह न शून्य होता है और न आकार युक्त होता है । न दृश्य होता है और न दर्शन होता है । उसमें ये भूत और पदार्थों के समुह नहीं होते, वह केवल सत अनन्त रूप में अवस्थित होता है । वह ऐसा अद्‌भूत तत्त्वहोता है कि जिसका स्वरूप निर्देश नहीं किया जा सकता है । उसकी आकृति पूर्ण से भी पूर्णतर होती है । वह न सत होता है और न असत् होता है, और न सत-असत दोनों होता है । न भाव होता है और न भावना, वह चेतना मात्र है । परन्तु चित्त विहीन होता है अनन्त होता है । वह अजर होता है, परन्तु शिव स्वरूप कल्याणकारी होता है । उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं होता वह अनादि तथा दोष हीन होता है । द्रष्टा दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी में वह केवल दर्शन स्वरूप माना जाता है । हे शुकदेव मुनि ! इसके विषय में कोई दूसरा निश्चय नहीं किया जा सकता । तुमने इस तत्त्वको स्वयं ही जान लिया है तथा अपने पिता से भी सुना है कि जीव अपने संकल्प से ही बन्धन में पड़ता है और संकल्प हीन होने से मुक्त हो जाता है । अतएव तुमने स्वयं उस तत्त्व को जानलिया है जिसको जान लेने पर समस्त दृश्यों अथवा भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है । तुमने सम्पूर्ण चेतना में सोऽहम् स्थितिलाभ कर समस्त प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्तकर

लिया है । ब्रह्मन् ! तुम मुक्त हो, साक्षी मात्र हो ।

तृतीय अध्याय

वैराग्य निरूपण

मानव जीवन वृक्ष के पत्र के अग्रभाग में लटकते हुए जलकण से समान क्षण भंगुर है । न जाने कब यह उस सुखे पत्ते की तरह झड़ जाय, शरीर काल कवलित हो जाय कोई निश्चत् नहीं । इस देव दुर्लभ शरीर को एक समय सब को छोड़कर जाना ही होगा ।

विषय रूपी सर्प के स ँ से जिसका चित्त जर्जर हो गया है, तथा जिनको प्रोढ़ आत्मविवेक (दृढ़ निश्चयात्मक जीव ब्रह्मात्मेक्य भाव जाग्रत) नहीं हुआ है, उनके लिये जीवन कष्ट का ही हेतु बनता है । ज्ञानी पुरुषों के लिये शास्त्र भार स्वरूप है, रागी के लिये ज्ञान भार स्वरूप है, अशान्त पुरुष का मन ही उसके लिये भार स्वरूप है । तथा जो आत्मज्ञ नहीं है उसके लिये यह शरीर भार स्वरूप है । अहंकार से बढ़कर कोई मनुष्य का अन्य शत्रु नहीं है । इसके वशीभूत होकर चराचर में जीव भ्रमण करता है । तृष्णारूपी कुत्तिया के पीछे-पीछे भटकने वाले कुत्ते के समान उस क्रुर मन के वशीभूत होकर प्राणी जड़ होगया है ।

जिसके कारण पुनः शोक नहीं करना पड़े, जिस में परा शान्ति प्राप्त कर ली जाती है, वही जीवन कहलाता है । यो तो वृक्ष भी जीते हैं, मृग और पक्षी भी जीते हैं; किन्तु यह जीना वास्तविक जीवन नहीं है । जीना वही सार्थक है जिसका मन आत्म चिन्तन में लगा हुआ है । बस संसार में उन्हीं व्यक्तियों का जन्म धारण करना सफल है, जो पुनः आवागमन के चक्कर में नहीं फंसते । शेष तो बूढ़े गधे के समान ही है । अथवा भार वाही पशु के समान ही हैं जो अपने शरीर को कष्ट देकर दूसरों की दासता कर जी रहे हैं ।

चित्त का निग्रह करना समुद्र पान से भी कठिन है, तथा अग्नि को भक्षण करने से भी विषम कार्य है । बाह्य तथा आभ्यान्तर विषयों का हेतु चित्त है, उसके आधार पर ही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों प्रकार के जगत् की स्थिति है । चित्त के क्षीण होने पर संसार क्षीण हो जाता है । अतएव प्रयत्न पूर्वक चित्त की ही चिकित्सा होनी चाहिये । चिन्ता का थोड़ासा त्याग भी आनन्द का हेतु होता है

तथा चिन्ता थोड़ी भी करने से दुःख प्राप्त होता है ।

ये जागतिक पदार्थ दुःखमय हैं । ये धन, जिनके पीछे चिन्ताओं के समूह, चक्र के समान भ्रमण करते रहते हैं, जो दुःख का ही कारण है । स्त्री, पुत्रादि मानो उग्र आपदाओं, कष्टों का ही निकेतन हैं । चिन्ता रूपी महामारी का नाश करने के लिये चिंता का त्याग करना आनन्द रूप है तथा चिन्ता करने से दुःख प्राप्त होता है ।

शरीर के समान गुणहीन तथा नीच कोई अन्य वस्तु नहीं है । कितने अच्छे-अच्छे सुन्दर फल, मेवा, मिष्टान्न, अन्न, भोजनादि रात्रिभर पेट में इसके साथ रहने से सुबह उनकी क्या दुर्दशा होती है, जो मल रूप हो जाने पर उस ओर दृष्टि पात तक करने की इच्छा नहीं होती । यह मुख रूपी द्वार जिह्वा रूपी बन्दरी से सदैव आक्रान्त होकर भयानक बन रहा है व भक्ष-अभक्ष का विवेक खोकर अग्नि की तरह सब अपने में स्वाहा करता जाता है । जिसके द्वारपर दाँत रूपी हड्डी के टुकड़े दिखलायी पड़ रहे हैं । भीतर व बाहर हाड़, मांस, रक्त, पित्त, कफ, पीप, मल, मुत्र, रज,वीर्य चर्मादि के अतिरिक्त और है ही क्या, जिसमें युवा युवतियाँ विवेक खो बैठते हैं ।

बाल्यवस्था में गुरु से, माता-पिता से, बड़ों से बड़े लड़कों से तथा अन्य लोगों से डर लगता है; अतएव शैशव भय का घर है । युवावस्था में काम रूपी पिशाच पराजित करदेता है । तथा बुढ़ापे में काँपते हुए मनुष्य को देखकर दास, पुत्र, स्त्रियाँ, बन्धु तथा मित्रगण हँसा करते हैं तथा बुढ़ापा के कारण लालसा अधिक बढ़ जाती है । जिसने शरीर में बल, इन्द्रियों में शक्ति रहने की अवस्था में काम पर विजय नहीं पायी, वह बुढ़ापे में इन्द्रियों द्वारा पराजित होता है । काल तृण के समान आयु को काट रहा है ।

संसार में उदार रूप में स्थित अत्यन्त कोमला ी जो ये लक्ष्मीजी है, वे भी परम मोह की लता है । निश्चय ही एक महान् दुःख का ही कारण है । आनन्द प्रदान करने वाली नहीं है । यन्त्र के समान चञ्चल अंग रूपी पिंजर में मांस पुतली के समान, स्नायु तथा अस्थि की ग्रन्थियों से निर्मित स्त्री के शरीर में कौन सी वस्तु है जिसे सुन्दर कहा जाय ? नेत्र में स्थित त्वचा, मांस, रक्त तथा आंसू से पूर्ण है इनको

अलग-अलग कर देखो इन में कौनसी वस्तु रम्य है ? एवं दोनों कोनों से मल गीच बहता रहता है । ओष्ठ - जो सदा चिकनी-चिकनी लार युक्त भीगे रहते हैं अगर छोटा बच्चा भी भोजन के थाल में लार टपका देवे तो उस भोजन को करने की इच्छा नहीं होती फिर ओष्टों में क्या रसास्बादन होता होगा ? केश - जो सुखी घास की तरह जलने वाले हैं तथा भोजन की थाली में दिखाई पड़ जाने पर उसी समय रम्य स्त्री को पति महोदय अनेक कटु शब्द कह डालते है; भोजन थाल छोड़ देते हैं किन्तु एकान्त में उसीके बाल, सर चूमने में मुर्ख सुखानुभूति करता है । गाल व स्तन जो फुले हुए सुजन लिये स्थान की तरह ही है । जिसे विलासी पुरुष मेरु पर्वत शिखरों से अथवा अनार फल से उपमा देते हैं; दो मांस के पिंड़ रूप ही तो है । जो वस्त्र रहित अवस्था में बुढ़ी स्त्रियों के देखने में घृणा ही होते देखी जाती है । व शरीर के काल कवलित होने पर स्मशान में उसे नोच नोच कर कौवे गिद्ध कुत्ते पके मांस पिंड के रूप में खाया करते हैं । योनि जिसका नाम नहीं लिया जाता-वह क्या है ? सच पूछो तो दो विदीर्ण हिस्सों में बटा हुआ, चिरा हुआ चर्म खण्ड की तरह सदा अपान वायु द्वारा दूषित होने से दुर्गन्ध का महान् घर है । चिकने द्रव से सदा युक्त तथा मुत्र का द्वार, मासिक श्राव का कुण्ड ही तो है, जो प्रति महीने समय पर भर जाने से वहाँसे ७ दिनोंतक बहता रहता है । उन दिनों क्या वह स्थान रम्य प्रतीत होता है ? बस् वही पुरुष के शरीर की स्थिति है । केवल स्तन नहीं होता एवं योनि की जगह उपस्थ होता है जो एक वृक्ष पर लटकते हुए बैंगन रूप ही तो है या पशु के गले की घन्टी रूप ही तो है । लिंग से वीर्य स्खलित हो जाने पर वह आग में झुलसे हुए बैगंन रूप सिकुड़ा हुआ प्रतीत होता ।

जिसने स्त्री की आसक्ति को त्याग दिया है । उसका संसार छूट गया किन्तु आत्म तत्त्व रहित ब्रह्मचारी भी पशु ही है । एवं ग्रहस्थ ज्ञानी स्त्री-पुरुष भी ब्रह्मचारी ही है । स्त्री पुरुष संसार के पूरक है । साधना में सहायक है बाधक नही । न स्त्री बुरी, है न काम बुरा है, न पुरुष बुरा है, केवल बुरी है आसक्ति । आसक्ति ही बन्धन का कारण है । अगर स्त्री से सभी उस प्रकार घृणा करते तो आज विश्व में जो तुलसी, सूर, बाल्मिक, नारद, प्रहल्लाद, राम,कृष्ण, मीरा, शबरी, रामकृष्ण - दयानन्द, विवेकानन्दादि महान विभूतियाँ कहाँ आकाश से टपक पड़ते ? आज धर्म जो दिखाई पड़ता है वह इन स्त्री रत्नों की ही देन है । यदि निष्पक्षता से विचार

करे तो स्त्री निन्दनीय है अथवा बन्दनीय है ? धिक्कार है उन्हें जो उस कल्याण प्रदायिनी जगत् जननी अमृत पान कराने वाली देवी मां के प्रति निन्दनीय शब्द कहता है, निन्दा करता है, जिसके गर्भ में रह दूध पीकर बड़ा हुआ, उसी मां की निन्दा करता है, लेख लिखता, छपवाता है यह नमक हरामी नहीं है तो और क्या है ?

अरे ! इस अबला गो रूप स्त्री को सदैव से स्वार्थी लोगों ने अपने भूख का साधन, अपने भोग की सामग्री, अपनी विषयाग्नि के लिये ईन्धन रूप ही समझा है । उन्हें कभी समाज ने ऊपर नहीं आने दिया, सदैव से उनपर शासन किया एवं अपना स्वार्थ सिद्ध किया । जिस स्त्री की आज इतनी निन्दा समाज में, नगर में, शास्त्र में पायी जाती है उसका मूल कारण पर विचार करेंगे तो यह राक्षस मनुष्य ही निकलेगा कि उसने आज उसे, असहाय, अबला, कमजोर वैश्या रूप में खड़ा कर दिया । आज देश में वैश्याओं के सम्प्रदाय की कमी नहीं । दिन प्रतिदिन की बढ़ती हुई कामी पुरुषों की मांग ने ही इन सती साध्वी स्त्री को बाजार में लाकर खड़ा करदिया है । पैसा क्या नहीं करा सकता, पेट क्या नहीं करने को मजबूर कर सकता है ? यह वैश्या जाति भगवान ने नहीं बनायी, यह इस कामी मानव समाज ने ही बनाई है । इसका मूल कहाँ से शुरु हुआ होगा उसका अनुमान लगा सकते हैं । जब कोई गरीब घर की लड़की अथवा विधवा स्त्री पेट भरने हेतु बड़े लोगों के यहां काम करती है, मजदुरी करती है । उसी समय में कामी पुरुष उन्हें कुमार्यावस्था में ही बच्चे की मां बनादेते हैं । तब वह अबोध बालिका अपने समाज से ठुकरा दी जाती है । आखिर वह जायेतो कहाँ ? फिर ऐसी लड़की के साथ कोई लड़का शादी करने को तैयार भी नहीं होता है, आखिर वह इधर-उधर संसार की थपेड़े खाकर ही जीवन व्यतीत करती रहती है । कामी पुरुष ऐसी स्त्रियों को चन्द रोटी के टुकड़े तथा वस्त्र देकर उनका तन लुटा करते हैं । और फिर वह मुसीबत की मारी जीवन निर्वाह के लिये मजबूर होकर जिस कर्म का एक दिन वह पाप समझती थी आज वो पर पुरुष से सम्बन्ध स्थापित होने पर सौभाग्य मानती है । क्योंकि उसकी अब वह आजीविका बनचुकी है । अब उसे घृणा नहीं होती किसी के किसी भी प्रकार के अभद्र व्यवहार को देखा फिर उसकी सन्तान भी वही कर्म करती है व उसकी मां भी उसे वही पेट भरने का व्यवसाय सिखाती है क्योंकि अब उनकी जाति समाज संसार से अलग हो

चुकी है , उनका जगत् ही पति होता है । जगत् ही पिता होता है । कुछ बाल विधवा की प्रथा द्वारा पथभ्रष्ट हो जाती है, हमारे देश में अन्ध विश्वास की जितनी सिद्धि है उतनी अन्य जगह नहीं है । पति की शकल तक न देखने वाली विधवा बन जाती है । जो फिर उसी प्रकार बदमाशों द्वारा अपनायी जाती है एवं बड़े-बड़े शहर में बेच दी जाती है । आज शहरों में इनका एक बाजार अलग से ही मिलता है । वहाँ हर जाति की हर अवस्था की लड़कियाँ स्त्रियाँ चन्द रूपयों पर मिल सकती है । धिक्कार है उन पुरुषों को जिन्होंने अपनी अमृत स्वरूपा मां को यह वैश्यारूप प्रदान कराया अर्थात् बाजार में शरीर बेचने को मजबूर किया । कुछ लड़कियाँ देहज प्रथा के कारण अविवाहित रह जाने के कारण आत्महत्या करलेती है या फिर इस वैश्यावृत्ति को धारण कर लेती है जिस पाप का भागी वे लोग ही जिन्होंने उसे देहज न मिलने के कारण उन्हें ठुकराया है ।

औरत ने मर्दों को जन्म दिया
मर्दों ने उन्हें बाजार दिया
जब जी चाहा तब मचला कुचला
जी चाहा तब प्यार किया
नंगी नचवाई जाती है अय्याशों के दरवारों में :
नर गंवार पशु अरु घोड़ा ।
इनको जितना मारो उतना थोड़ा ।

पशु और घोड़ा तो फिर भी काम आते हैं, पर ये कामी कुत्ते तो मारने योग्य ही है । कहने का तात्पर्य यही है कि स्त्री जाति की जो दुर्दशा हुई है उसका जिम्मेदार हमारा समाज, हमारा अन्धा धर्म तथा हमारी काम लोलुपता ही है । किसी शहर में किसी देश में यह नहीं सुना कि स्त्री ने पुरुष को उड़ाकर लेगई । किन्तु नित्य अनेको स्त्रियाँ, लड़कियाँ बदमाशों द्वारा हरण की जाती है । आजतक यह नहीं सुना कि किसी स्त्री ने किसी रास्ते चलते हुए व्यक्ति के साथ छेड़-छाड़ की, किन्तु नित्य कई व्यक्ति, नव युवक शहरों में चप्पल जूते तथा पुलिस द्वारा इस छेड़-छाड़ के अपराध में हाथ, पैर तुड़वाते जेल में बन्द नजर आते हैं । तो क्या पुरुष वन्दनीय है और भी स्त्री निन्दनीय है ?

आजतक स्त्री जाति की इतनी बड़ी हानि होने का कारण भी है तो वह एक यही है कि उसे सदा दासता का ही अधिकार दिया स्वामिनी रूप नंहीं दिया। उसे सदा अशिक्षित रखा - धर्म के नाम केवल पति सेवा का अधिकार दिया व आत्म धर्म से वंचित् रखा। अशिक्षित रहने से सत् शास्त्रों के अध्ययन लाभ से भी वंचित्, रखागया तो उन्हें विवेक जाग्रत हो तो कैसे हो ? सब शास्त्र, सब नियम, सब कानून की पुस्तकें स्वार्थी पुरुषों द्वारा लिखी गई है । अपने स्वार्थ की हानि को गैर कानून करार दिया, व स्वार्थ पूर्ती के साधनों को उचित, जाईज धर्मरूप करार दिया। पुरुष की पत्नी मर जावे तो दूसरी शादी कर सकता है, और दूसरी मर जावे तो तीसरी, चोथी कर सकता है या एक साथ तीन, चार, दस बीस भी (राजा, मुस्लिम्, भोगी राजपूत लोग) रख सकते हैं। और स्त्री का यदि पति मर जावे तो जीवन भर उसे विधवा रूप रहना धर्म बताया। यह कैसा स्वार्थ मय मुर्खों का बनाया विधान है। किस धर्म में लिखा है कि पुरुषों को बहुत पत्नी रखने अधिकार है एवं स्त्रियों के लिये बहु पति अपराध है। यदि इस प्रकार का अन्यायपुर्ण गलत विधि विधान है तो वह वास्तव में धर्मग्रन्थ नहीं बल्कि दुराचारियों अधर्मो लोगों का स्वार्थ मय सिद्धान्त है। पर बेबस पराधीन नारी क्या कर सकती है ? बत्तीस दाँतों के बीच एक जीभ जिस प्रकार जीवन वृक्षन करती है, तनिक भी बाहर निकले तो दांत द्वारा कुचलदी जाती है उसी प्रकार सबके पुज्यनीय प्रातः वन्दनीय, स्मरणीय देवी भवानी स्वरूपा स्त्री यदि थोड़ा भी स्वतन्त्र होने का प्रयास करती है, अपने जीवन की उन्नति हेतु कुछ सुधार करना चाहती है तो क्रूर राक्षसों द्वारा कुचल दी जाती है। जैसे गाय पशु को, मालिक जिस के हाथ में बेच देना चाहते हैं वह उसके साथ चलदेती है। आज वही व्यवहार स्त्री जाति के साथ हो रहा है। व बड़े-बड़े साधु रूप में धूमने वाले कामी पुरुष स्त्री की निंदा करते हैं, क्योंकि इन्हें निराशा की ठोकर लग चुकी है, अपमानित हो चुके हैं, अवसर उन्हें नहीं मिलने से 'अंगुर खट्टे हैं' कहावत प्रसिद्ध है।

अतः नारी निन्दा न करो नारी रत्न की खान ।
इसी नारी से ऊपजे भक्त-ध्रुव-प्रहलाद समान ।

आज देश में सैनिक सेवा कर रहे हैं तभी आप घर में आराम से विलासी जीवन व्यतित कर रहे हैं। कहिये ! ये सैनिक देश भक्त क्या बाढ़ में बहकर आये हैं

? यह स्त्री का ही देशभक्त दयावान उदार हृदय है जो अपने सौभाग्य की चिन्ता न कर अपने प्राणाधार पतिदेव को विजयमाला पहना देश सेवा में भेज छुप छुपकर रो-रोकर भी जी लेती है ।

यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः

जहाँ स्त्रियों का आदर सत्कार होता है, वहीं देवता रमण करते हैं ।

'जिन तन दियो ताहि निन्दियायों ऐसो नमक हरामी'

- तुलसी

अगर यह स्त्री जाती निन्दनीय है तो बड़े साधु, सैनिक, वैज्ञानिक, ज्ञानी, भक्त क्या आकाश मार्ग से बरसात में टपक् कर कहीं अवतरित हो गये ।

याद रखो ! संसार में कोई भी वस्तु हमारे अहित के लिये उस परम पिता परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की । सब हमारे सहायक है, लक्ष्य में पूरक है । विश्वकर्ता परमपिता अपने सन्तान को उत्पन्न कर, क्या उसके लिये कोई मारक विष भी उत्पन्न करेगा ? कभी नहीं यह क्रूर कार्य तो संसारी पिता भी नहीं कर सकता जो थोड़ा भी दयालु होगा । फिर वह करुणा सागर, बिनु हेतु सनेही क्या हमारे लिये कोई मारक पदार्थ की रचना करेगा ? कदापि नहीं । जो यह विष भी परमात्मा ने बनाया है तो इसी विष द्वारा वैद्य डाक्टर लाखों बीमारों को रोग से मुक्त दिलाते हैं । मैं आपसे पूछता हूँ यह अन्न क्या आपके हमारे मारने हेतु बनाया हैं ? किन्तु जिह्वा स्बाद में ज्याद खाजाने पर कोई मुर्ख काल कवलित होता पाया जाय, तो क्या कहा जावेगा कि भगवान अन्न न बनाते तो मरता नहीं । देखिये प्रत्येक वस्तु उचित मात्रा में ग्रहण करने से वह कल्याण स्वरूप ही होती है । विष भी व्यर्थ तत्त्व नहीं है, अगर वह न होता तो सैकड़ों हजारों रोगी नित्य काल कवलित हो जाते किन्तु शरीर के विष को बाहरी विष, दवा के रूप में देकर रोगमुक्त कर दिया जाता है ।

युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःख हा ।।

- गीता ६/९७

नियमित आहार-विहार नियमित कर्म करने वाला, नियमित सोने तथा

जागने वाले साधक के लिये ज्ञान योग को प्राप्तकर समस्त दुःखों से छूट सकता है ।

अतः उचित-अनुचित विवेक द्वारा संसार में कोई कार्य व्यवहार बुरा नहीं है । सन्तान उत्पत्ति हेतु देश की रक्षा हेतु अथवा धर्म संस्थापन हेतु, पुत्र उत्पन्न करना अधर्म नहीं अपितु धर्म है । यदि हमारे पूर्वज यह सन्तानोत्त्पति कार्य न करते तो आज धर्म का प्रचार कैसे होता ? हाँ, केवल विषय भोगासक्ति हेतु शरीर के राजा रूप वीर्यशक्ति को नष्ट नहीं करना चाहिये । यह स्मृति मेधा का पोषक है । किन्तु उचित भूमि में उचित समय पर उत्तम बीज डाल सन्तान उत्पत्ति करना अधर्म नहीं, धर्म है एवं लोक कल्याणार्थ ही है । अस्तु काम की निन्दा न करो बल्कि मोक्ष की कामना जगाओ । न स्त्री की निन्दा करो, और न पुरुष की निन्दा करो । निन्दा तो केवल आसक्ति की ही करो । अन्यथा राम, कृष्ण, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, राजा जनक आदि को क्या नरक गामी बतलावेंगे ? ये सभी ज्ञानी, महापुरुष समस्त भोगों के मध्य भोगमय जीवन व्यतीत करते हुए भी संतो में योगियों में मुकुट मणि का स्थान ग्रहण करते हैं । रामने भी अपने बलबुद्धि पराक्रम द्वारा सीता को प्राप्त किया था । क्या कृष्ण ने शादी (विवाह) नहीं की, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर की पत्नियाँ नहीं थी ? यदि वे सन्तान को जन्म न देते तो यह ज्ञान परम्परा ही समाप्त हो जाती । हम तक यह ज्ञान भी नहीं आ पाता ।

बिना पुरुष-प्रकृति के जोड़ के संसार की सिद्धि नहीं, जैसे दिन-रात, शीत-उष्ण, धूप-छांव, चन्द्र-सूर्य, कृष्णपक्ष-शुक्लपक्ष है वैसे ही स्त्री-पुरुष की रचना सर्वग्य ईश्वर से हुई है । यह किसी मूर्ख का रचा संसार नहीं है । फिर सब कामवृत्ति अथवा नारी की निन्दा क्यों करते हैं ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । तो निन्दा करने का कारण यह है कि जिन लोगों ने विषय भोग को ही जीवन का सच्चा आनन्द मानकर देव दुर्लभ मानव जीवन को पशुवत् आहार, निद्रा, भय, मैथुन, इन चारों कर्मों में ही व्यतीत करने में लगया है, उनकी उन-उन विषयों से आसक्ति को नष्ट कराने हेतु इस प्रकार की युक्ति द्वारा कामवासना का भयानक एवं दुःख रूपता का वर्णन किया गया है । ताकि वह कामासक्ति से हट ईश्वरभक्त बने ।

यदि स्त्री पुरुष विवाह सम्बन्ध को पाप रूप जान नर, नारी सब कार्य अपने

शरीर निर्वाह हेतु स्वयं करने में लग जायेंगे तो फिर साधना हेतु समय विशेष नहीं रहेगा। काम तो दोनों को अपने पेट भरने हेतु करना ही पड़ेगा, उसी में थोड़ा-सा परिश्रम ज्यादा कर दो पेट के लिये अर्जन कर फिर दोनो भगवत चिन्तन करते हुए शिघ्र लक्ष्य को पहुँच सकेंगे। अन्यथा अकेली स्त्री, कैसे उदर पूर्ति की व्यवस्था कर साधन कर सकेगी?

अगर साधना का लक्ष्य दोनों में न रहा तो स्त्री हेतु पुरुष एवं पुरुष हेतु स्त्री बहुत दूरपर जलने वाली नरकाग्नियें की सुन्दर आकर्षित ईन्धन स्वरूपा लपटे ही हैं। तथा साधक स्त्री-पुरुषों के लिये परस्पर सम्बन्ध मोक्ष का साधन भी है। अगर स्त्री या पुरुष को साधनावस्था में पूर्व प्रारब्ध संस्कारानुसार काम वासना उत्पन्न होगई तो उसे शान्त करने हेतु उसका जीवन साथी अगर साथ है तो अपने मन की चंचलताको निवृत्त करने हेतु उसे विशेष श्रम नहीं करना पड़ेगा तथा साधन में विघ्न भी नहीं होगा। यदि काम वासना को शान्त करने हेतु दमन की नीति अपनावेंगे तो अन्धकार अपना समय व शक्ति इसी काम को नष्ट करने में लगाये रहेंगे, तो फिर जीवन का लक्ष्य ज्ञान एवं मोक्ष प्राप्ति कब व कैसे कर सकेंगे ?साथ ही यह मानव में वृत्ति पायी जाती है कि जब वस्तु पास रखी होती है तो उसके प्रति विशेष रुचि नहीं होती है, किन्तु वस्तु अभाव में विशेष भोग लिप्सा बढ़ती देखी जाती है। यही कारण है कि श्रेष्ठ पुरुषों की अपेक्षा गरीबों का आहार ज्यादा मात्रा में होता है। फिर भी वे सदैव अतृप्त से ही दिखाई पड़ते हैं। जब कि धनाढ्य लोगों को अल्पाहार ही पर्याप्त होता है। उसी प्रकार साधक स्त्री-पुरुषों का सम्बन्ध मोक्ष में सहायक ही है। किन्तु मूर्ख के लिये नरक का ही द्वार है। क्योंकि वे अपना सब समय, जीवन, धन तथा शरीर उसी विषयभोग कामना की पूर्ती में ही लगाये रहते हैं। अतः इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त किसी के लिये नहीं कहा जा सकता। शुकदेव जी जन्म से वैरागी थे किन्तु उन्होंने अपने कल्याणार्थ राजा जनक को गुरु बनाया जिनकी अनेक रानियों एवं सन्तानें थी। अतः यह सब आत्मज्ञान के दृष्टि कोण से ही निश्चय किया जा सकता है कि उसके लिये कैसा जीवन सहायता रूप हो सकेगा।

वासना रूप तृण को दग्ध करने वाली अग्नि यह आत्मज्ञान ही है। इसे ही 'समाधि' शब्द से लक्षित करते हैं। चुपचाप निष्प्राण होकर बैठे रहने का नाम

समाधि नहीं अगर यह समाधि स्थिति माने तो गुलर के वृक्ष के फल या भूमि में रहने वाले कीड़ों की स्थिति मनुष्य से ज्यादा सुदृढ़ है । आम के फल के बीज (गुठली) में रहने वाले कीड़े की समाधि भी मानव द्वारा की गयी जड़ समाधि से श्रेष्ठ है । क्योंकि मनुष्य तो ३-४ घंटे रहकर फिर संसार में आ जाता है । किन्तु उन कीड़ों का जन्म-मृत्यु उसी समाधि अवस्था में होती है । अतः चुप रहना निष्प्राण, निःचेष्ट होना जड़ समाधि है, जो हेय है । श्रेय तो चैतन्य समाधि है ।

साधो सहज समाधि भली । गुरु कृपा से मिली ।।
आंखन मुंदं कान न संदु काया कष्ट न धारु ।।
खुले नैन पहिचानुं हरि को सुन्दर रूप निहारु ।।

- श्री कबीर

'मैं नित्य ही अकर्ता हूँ' इस प्रकार की प्रबल भावना से युक्त होकर केवल परम अमृता नाम की समता ही अवशिष्ट रहती है । जो जन्म से बाह्य कर्मों के प्रति उदासीन है किन्तु ज्ञान में जिसकी रूची है, वह सत्व में स्थित होकर इस लोक में जन्में हैं, वे महान् गुणी हैं, उनकी सदा ही उन्नति होती है । तथा वे सदा आकाश स्थित चन्द्रमा के समान सदा प्रसन्न, शान्त, शीतल, रहते हैं । साधक गुरु के उपदेशानुसार स्वानुभूती के द्वारा आत्म साक्षात्कार करलेते हैं तथा प्रकृति-पुरुष के विज्ञान को तत्त्व सहित जान लेने से जगत् उसी प्रकार उनके लिये विलीन हो जाता जैसे कि प्रकाश के पश्चात् अन्धकार ।

न धन से पुरुष का उपकार होता है, न शारीरिक क्लेश के दूर होने से, न मित्रों से, न स्त्री से, न पति से, न पुत्र से, न तीर्थों में वास करने से, न हवन, यज्ञ, दान, जप, तपादि करने मात्र से ही मनुष्य उपकृत होता है । परमपद की प्राप्ति केवल जीव ब्रह्म अभेद बुद्धि हो जाने पर ही हो सकती, है अन्य साधन से नहीं ।

तमेव विदित्वादि मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽनाय

- श्वेता : ६/१५

नेम धर्म आचार वृत । योग, यज्ञ, जप, दान ।
भेषज पुनि कोटिन्ह करे । रुज न जाय हरिजान ।।

- रामायण उत्तर काण्ड

अनेको कर्म क्यों न कीजिये, किन्तु भवरोग तो हरि (आत्मा) को सोऽहम् रूप से जानने पर ही होगा। अन्यथा यह भव रोग किसी प्रकार निवृत्त नहीं हो सकेगा।

''जानत तुम्हई तुम्हई होई जांही''

''ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति''

उसे जानकर बस वही हो जाता है। अर्थात् फिर उसमें द्वैत भाव नहीं रहता।

सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखंडा, दीप शिखा सोई परम प्रचण्डा।
आतम अनुभव सुख सुप्रकाशा। तव भव मूल भेद भ्रम नाशा॥

ऐसी अखंड वृत्ति का उदय हो जाना ही मोक्ष है।

असंजोग ईस जब करई। तबहूँ कदाचित सो निरुअरई।

जब ईश्वर कृपा से जीव को ऐसा कोई अभेद दर्शी, तत्त्वदर्शी गुरु मिल जावे जो उसे जीव-ब्रह्म अभेद ज्ञान चक्षु प्रदान कर दे, तभी यह जीव, जड़ चेतन की मिथ्या ग्रन्थि को छोड़ कृतार्थ हो सकता है।

छोरत ग्रन्थि पाव जो सोई। तब यह जीव कृतार्थ होई।

क्या यह ग्रन्थि सत्य है। नहीं, नहीं।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो माया बस भयेउ गोसाई।
ब्रध्यों कीर मरकट की नाई॥
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परिगई।
जदपि मृषा छूटत कठिनाई॥
छोरन ग्रन्थि जानि खगराया।

विघ्न अनेक करहि तब माया ।।
तबते जीव भयउ संसारी ।
छूट न ग्रन्थि न होई सुखारी ।।
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई ।
छुट न अधिक अधिक अरुझाई ।।

अमृत के पान करने से तथा लक्ष्मी के आलि‘न से वैसा सुख प्राप्त नहीं होता, जैसा अपने मन की शान्ति से जीव पाता है । सन्तोष रूप अमृत का पान करके जो शान्त एवं तृप्त हो जाते है वे ही आत्मा में रमण करने वाले महात्मा परमपद को प्राप्त होते हैं । जो अप्राप्त वस्तु की कामना नहीं करता, और प्राप्त वस्तु का ही प्राण रक्षार्थ भोग करता है, वह समान भाव से आचरण करने वाला पुरुष सन्तुष्ट कहलाता है । वह आत्मा में प्रीति को प्राप्त होता है । जैसे साध्वी स्त्री अपने ही घर में प्राप्त सुख में प्रसन्न रहती है । उसी प्रकार यथा प्राप्त में ही जब बुद्धि रमने लगती है तब वह स्वरूपानन्द प्रदान करनेवाली जीवन्मुक्तवास्था कहलाती है ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।

- गीता १८/५४

जो शोक तथा इच्छा से रहित है तथा सब जीवों में समान भाव रखता है वह ब्रह्मभाव को अर्थात् पराभक्ति को प्राप्त होता है ।

समयानुसार शास्त्रानुसार, देशानुसार सुख पूर्वक जहाँ तक हो सके सत्स‘ में विचरण करते हुए इस मोक्ष मार्ग के क्रमका तब तक बुद्धिमान पुरुष विचार करे, जब तक उसे आत्मा में विश्रान्ति प्राप्त न हो जाय ।

ग्रहस्थ हो या संन्यासी जो तुरीयावस्था की विश्रान्ति से युक्त है तथा संसार सागर से निवृत्त हो चुका है वह जागतिक जीवन में रहे या न रहे, उसे शुभाशुभ कर्म करने अथवा न करने से कोई प्रयोजन नहीं श्रुति स्मृति के भ्रमजाल से उसे कोई मतलब नहीं । वह तो सदा आत्मा में स्थित रहता है । जो कुछ यह समस्त स्थावर, ज‘मात्मक जगत् दिखलाई देता है, वह प्रलय काल अर्थात् वेदान्त ज्ञान प्राप्त होने

पर उसी प्रकार नाश को प्राप्त हो जाता है । जैसे सुषुप्ति अवस्था में यह व्यावहारिक दृश्य जगत् एवं स्वप्न विलीन हो जाता है, जैसे स्वर्ण में व्यवहार प्रयोजन हेतु कंकण, हार, कर्ण फुल, अंगुठी कल्पित है । उसी प्रकार 'जगत्' शब्द का अर्थ भी परब्रह्म है ।

द्रष्टा का दृश्य से अन्तर्भूत होकर रहना ही बन्ध है । तथा दृष्य के अभाव से ही जीव द्रष्टा भाव से मुक्त हो जाता है । इस दृश्य जगत् को लय चिंतन द्वारा ब्रह्म रूप देखने से ही मुक्त हो सकता है । दृश्य रूप से बन्धन को ही प्राप्त होगा ।

जगत् और मैं, तू इत्यादि रूप जो सृष्टि है, वह दृश्य कहलाती है । जबतक मन की कल्पना चलती रहेगी मोक्ष दुर्लभ है अर्थात् अभेद बुद्धि के बिना दृश्य समाप्त नहीं होगा । व जबतक दृश्य के अन्तर्भुत द्रष्टा रहेगा बन्धन को ही प्राप्त होगा । दृश्य के वश में होने से द्रष्टा बद्ध होता है और दृश्य के अभाव में वह मुक्ति प्राप्त करता है । राग-द्वेषादि दोष क्षीण हो जाते है, उस समय अभ्यास बल व अभेद चिन्तन से जो स्थिति प्राप्त होती है, उसे समाधि कहते हैं । दृश्य की सत्ता का अभाव जब बोध में आजाता है । तब वही निश्चय पूर्वक ज्ञान का स्वरूप है । वही चिदात्मक ज्ञेयतत्त्व है, वही केवलीभाव है अर्थात् आत्मकैवल्य है, उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ मिथ्या है । राग द्वेषादि चित्त ही संसार है । वही चित्त जब दोषों से मुक्त हो जाता है, तब इस संसार का अन्त होकर जीव मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । मन से शरीर की भावना करने से ही आत्मा शरीरी बनता है, जब वह देहवासना से मुक्त होता है तब देह के धर्मों में लिपायमान न होकर, उसका मिथ्या कर्तृत्व अभिमान नहीं करता । यह संसार केवल मनोविलास मात्र है । यह मन कल्प को क्षण बना देता है और क्षण को कल्प बना देता है । जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है जो मन चंचलता हीन हो जाता है वह अमृत रूप कहलाता है ।

उस आनन्दमय द्वन्दातीत, निर्गुण सत्स्वरूप, ब्रह्म को अपना स्वरूप समझ लेने पर ही मनुष्य कदापि, भय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् 'सोऽहम्' ज्ञान रूप भजन ही मोक्षदाता है एवं 'द्वितीया द्वै भयं भवति' उस श्रुति अनुसार द्वैत भाव ही मृत्यु रूपी भय का कारण है । अतः मुमुक्षु प्रकृष्ट कैवल्यज्ञान द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार कर सकता है । जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर महान् से भी महान्, तेजोमय, शाश्वत, शिव

स्वरूप 'कल्याणकारी' सर्वज्ञ, पुराण, पुरुष, सनातन, सर्वेश्वर, एवं सब देवताओं के द्वारा उपास्य 'वह ब्रह्म मैं हूँ' 'सोऽहम्' इस प्रकार का दृढ़ निश्चय महात्माओं के लिये मोक्ष का साक्षात् हेतु बनता है । बन्ध और मोक्ष के दो ही कारण बनते हैं । ममता से जीव बन्धन में पड़ता है और ममता रहित होने से मुक्ति हो जाता है ।

जाग्रत अवस्था से लेकर मोक्ष की प्राप्ति तक समस्त संसार जीव के द्वारा कल्पित मिथ्या ही है ।

यह विश्व स्वयंभु ब्रह्मा की मानसिक सृष्टि है, अतएव जहाँतक मन, बुद्धि की गति है समस्त जगत् मनोमय ही है । जो विषयों का भान होता है वही मन कहलाता है । संकल्प करना ही मन का लक्षण है । मन संकल्प रूप में ही रहता है । अतएव जो संकल्प है वही मन है । यह जान लेना चाहिये । किसीने कभी संकल्प-विकल्प और मन को पृथक् नहीं किया मैं, तू और जगत् इत्यादि दृश्य प्रपंच के प्रशान्त हो जाने पर दृश्य जब परमात्मा रूप अनुभव में आता है तभी जीव कैवल्य को प्राप्त होता है । एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य देखना ही बन्धन है ।

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्‌गुरु करुणा विना ।।

- ४/७७

अतएव मुमुक्षु को ईश्वर-जीव भेद में बाद-विबाद नहीं करना चाहिये, बल्कि दृढ़ होकर ब्रह्मतत्त्व का विचार करना चाहिये । जो पुरुष समस्त जगत् चराचर को आत्म भाव से देखता है, चित्स्वरूप निर्विशेष समझता है वही अपरोक्ष ज्ञानवान् है वही शिव है, वही विष्णु है । विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है तथा सद्‌गुरु की कृपा के बिना सहजवस्था की प्राप्ति दुर्लभ है ।

उत्तम सहजावस्था मध्यमध्यान धारणा ।
निकृष्ट मूर्त्तिपूजा अधमाधम तीर्थाटन ।।

आत्मनिष्ठा ही सहजावस्था है । जो सहज समाधि नाम से लक्षित की जाती है । जिसकी बोधात्मिका शक्ति जाग्रत् होगयी है, जिसने समस्त कर्मों का कर्तृत्वाभिमान रूप से त्याग कर दिया है, ऐसे योगी को सहजासस्था स्वयमेव प्राप्त

हो जाती है । सर्वमय सच्चिदान्द को ज्ञान चक्षु से देखा जाता हैं, जिसे ज्ञान चक्षु नहीं वह परब्रह्म को उसी प्रकार नहीं देख सकता, जैसे अंधे को प्रकाशमान सूर्य नारायण अथवा स्वयं का रूप दर्शन कभी नहीं होता । वह ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप ही है ।

'विमुढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः'

- गीता : १५/१०

'ज्ञान ज्ञेयं ज्ञान गम्यं हृदि सर्वस्व विष्ठितम्'

-गीता : १३/१८

अतः ब्रह्म के परिज्ञान से ही मर्त्य जीव अमृत्व को प्राप्त होता है । उस कार्य-कारण रूप ब्रह्म का साक्षात्कार हो जानेसे पुरुष की जड़-चेतन ग्रन्थि खुल जाती है और सारे संशय दूर हो सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं । मैं यह हूँ, यह वह है, वे पदार्थ मेरे है यह भावना ही मन है । इन भावनाओं के त्याग रूपी युक्ति से ही मन का नाश होता है । यह मन ही बन्धन का कारण है । विचार के द्वारा ही मन अन्तर्हित हो जाता है । जिह्वे तृष्णा रूपी मगर (ग्राह) ने पकड़ रक्खा है । जो संसार समुद्र में गिरे हुए है, भवँरो के जाल में पड़कर लक्ष्य से दूर भटक रहे हैं उनके बचाने के लिये अपना विषय विहीन मन ही नौका रूप है । जिन-जिन विषयों में मन जाता है उन-उन का त्याग करता हुआ मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है । ऐसे मन के द्वारा इस भारी बन्धन रूप मन कल्पित जाल को काट डालो, और स्वयं संसार सागर के पार हो जाओ । दूसरों के द्वारा यह संसार सागर पार नहीं किया जा सकता है, अपना संसार सागर अपने को ही पार करना पड़ता है ।

मल, मूत्र त्याग, भूख-प्यास, सुख-दुःख भोग, मृत्यु, विवाह तथा मुक्ति इतने कार्य अपने को ही करना पड़ता है,। पहले भोग वासना का त्याग करो उसके बाद भेद भावना का त्याग करो उसके बाद भावाभाव दोनों का त्याग करके । विकल्प हीन बन कर सुखी हो । इस मन का नाश ही अविद्या का नाश है । मन के द्वारा जो-जो अनुभव में आता है, वह सब माया है उसमें आस्था न होने दो । आस्था का त्याग कर देना ही निर्वाण है और आस्था को पकड़े रहने देना ही दुःख है । जो प्रज्ञा विहिन है उन्हीं में अविद्या विद्यमान रहती है । जब अविद्या परतत्त्व-आत्मा की ओर अवलोकन करती है, तब इसका आप ही विनाश हो जाता है ।

सर्वात्माबोध दृष्टिगत होने पर अविद्या स्वयं ही विलीन हो जाती है । इच्छा मात्र ही अविद्या स्वरूप है । इच्छा नाश ही को मोक्ष कहते हैं । इच्छा अपने से भिन्न पदार्थ की होती है । किन्तु जब मुझसे दूसरा तत्त्व नहीं तब इच्छा का न होना स्वभाविक ही है । अतः इच्छा नाश संकल्पहीन होने पर ही है होता है । याने भेदभाव समाप्त होने का नाम ही संकल्प हीन अवस्था है ।

'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इस मिथ्या संकल्प के सुदृढ़ हो जाने से मन बन्धन को प्राप्त होता है । तथा सब कुछ ब्रह्म स्वरूप ही हैं । इस संकल्प के सुदृढ़ होने पर मन मुक्त हो जाता है । मैं दुबला हूँ, दुःख ग्रस्थ हूँ, मैं हाथ पैर वाला हूँ, जन्मने वाला हूँ, मृत्यु वाला हूँ । कर्त्ता भोक्ता हूँ इस भाव के दृढ़ होने से जीव बन्धन में पड़ता है । किन्तु मैं दुःखी नहीं, मैं दुबला-मोटा, नाटा, गोरा-काला नहीं, हाथ पैर मांस वाला नहीं, जन्म-मृत्यु वाला नहीं, कर्त्ता-भोक्ता नहीं, आत्म तत्त्व में स्थित मुझे बन्धन कहा ? इस प्रकार के व्यवहार में लीन मन मुक्त हो जाता है । इस प्रकार का निश्चय करने से अन्तःकरण से अविद्या नाश को प्राप्त हो जीव मुक्ति को प्राप्त होता है । इस प्रकार देह से पृथक् चैतन्य आत्मा, अकर्ता, अजन्मा, अविनाशी, सच्चिदानंद स्वरूप, दूसरा तत्त्व हूँ, इस प्रकार निश्चय कर लेने पर अविद्या क्षीण हो जाती है । तथा वह जीव मोक्ष को प्राप्त होता है । मेरा धन, मेरा पुत्र, मेरी पत्नी, मेरा पति, मेरा घर, आदि जो अनात्मा है, उनमें मेरा पन की भावना करना अज्ञान, अविद्या है । तुम अज्ञ मत बनों, तुम ज्ञानी बनो, सांसारिक भावना को नष्ट कर दो । अनात्म देहादिक के संबन्ध में आत्म भावना रखना ही अविद्या, अज्ञान है । जिसका फल जन्म, मृत्यु रूप बन्धन रूप संसार है । अतएव अनात्म पदार्थों में आत्म भावना करके क्यों मुर्ख की भांति रो रहे हो । यह मांस का पिंड़, जड़, मूक, अपवित्र शरीर तुम्हारा नहीं है । जिसके लिये बलात् दुःख सुख से जर्जरित हो रहा हो ? यह तो पांच महाभूतो को २५ तत्त्वों का है अथवा प्रत्यक्ष में पिता-माता से प्राप्त हुआ है । अत: दूसरे की सम्पत्ति को अपना कहना ही झूठ एवं पाप है व इसकी सजा ८४ लाख योनियाँ है ।

अहो ! कितने आश्चर्य की बात है कि जो सब के हृदय में स्थित है, जो ब्रह्म सत्य है, जो सबका अपना ही स्वरूप है, उसे मनुष्यों ने भुला दिया है ।

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्येशेऽर्जुन तिष्ठति'

- गीता : १८/६१

कैसी विलक्षण बात है कि कमलनाल के तन्तुओं से पर्वत बांध दिये गये हैं जो अविद्या है ही नहीं, उसके द्वारा यह विश्व अभिभूत हो रहा है । उस अविद्या के कारण तुच्छ तृण तुल्य-जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों जगत् वज्रवत् सत्य-से हो रहे हैं, जो स्वप्न के दृश्य की तरह असत् ही है । किन्तु जब तक स्वप्न द्रष्टा जाग्रत नहीं होता । उसके पक्ष में स्वप्न सत्य ही है । उसी प्रकार ज्ञानोदय होने पर जगत् भी स्वप्न वत् कल्पित ही हो जावेगा उसके पूर्व कभी नहीं ।

FFF

सामवेदिय

जाबालदर्शन उपनिषद्

प्रथम खण्ड

अहिंसा : मन, वाणी और शरीर द्वारा किसी को किसी प्रकार कष्ट दिया जाना या उसके प्राणों का हरण करना या किसी के द्वारा उसकी हत्या करवाना यह वास्तविक हिंसा है । इससे भिन्न दूसरी कोई हिंसा नहीं है । इस प्रकार मन, वाणी और शरीर द्वारा किसी भी प्राणी को सुख पहुँचाना ही वास्तविक अहिंसा है ।

अथवा आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, उसका शस्त्र आदि केद्वारा छेदन नहीं हो सकता । नेत्र या हाथ इन्द्रिय द्वारा उसका ग्रहण न होना इस प्रकार की बुद्धि को ही श्रेष्ठ अहिंसा वेदान्त वेत्ता महात्मा बतलाते हैं ।

सत्य : नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, घ्राणादि इन्द्रियों के द्वारा जो जिस प्रकार देखा, सुना, स्बादलिया, सूंघा समझा हुआ विषय है, उसको उसी रूप में वाणी द्वारा या संकेत द्वारा प्रकट करना सत्य है । इसके सिवा सत्य का और कोई प्रकार नहीं है ।

अथवा सब कुछ सत्य स्वरूप परब्रह्म ही है, परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी दूसरी कोई वस्तु सत्य नहीं है । इस प्रकार जो निश्चय है, उसीको वेदान्त ज्ञान के पारगामी विद्वानों ने सबसे श्रेष्ठ सत्य कहा है ।

अस्तेय : दूसरे के स्वर्ण, रत्न, मुक्ता, धन, भूमि, अन्न, वस्त्र, पत्र पुष्प, फल, घास, भूमि, मकान, सन्तान, स्त्री, पुरुष, शरीरादि किसी वस्तु के लिये मन में लोभ ना लाना ही अस्तेय है । इसे ही चोरी न करना माना है ।

अथवा विद्वान् महापुरुष जगत् के समस्त व्यवहारों में अनात्म बुद्धि रखकर, उन्हें आत्मा से दूर मानने का भाव ही अस्तेय कहा है ।

ब्रह्मचर्य : मन वाणी और शरीर के द्वारा स्त्रियों के सहवास का परित्याग तथा ऋतुकाल में धर्मबुद्धि से केवल अपनी ही पत्नी से सम्बन्ध- यही ब्रह्मचर्य कहा है ।

अथवा मन को परब्रह्म परमात्मा के चिन्तन में लगाये रखना ही सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य है ।

दया : सब प्राणीयों को अपने ही समान समझकर उनके प्रति मन, वाणी एवं शरीर द्वारा आत्मियता का अनुभव करना एवं उनके दुःखों को दूर करने की चेष्टा करना ही दया कही गयी है ।

आर्जव : शत्रु, मित्र, पुत्र, स्त्री, माता, पिता, पड़ौसी, हिन्दु, मुस्लिम्, सिक्ख, इसाई, मुल्तानी, सुल्तानी, उड़िया, बंगाली, गुजराती, मारवाड़ी, सिन्धि, पञ्जाबि तथा अपने आत्मा अर्थात् अपने में भी सदा मन का एकसा भाव रखना आर्जव (सरलता) है । सर्वत्र समता भाव को आर्जव कहा जाता है । वे ज्ञानी जन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा चाण्डाल में, हाथी तथा गधे में गौ तथा कुत्ते में भी एक आत्मा को देखते हैं ।

क्षमा : शत्रुओं, अन्यमतावलम्बियों, सम्प्रदायीलोगों, अन्यजाति वाले दुष्टों, अपराधियों के प्रति भी बुद्धि में तनिक भी क्षोभ न आने देना ही क्षमा है ।

आहार : शुद्ध सात्विक अन्न जो आयु बुद्धि, बल, आरोग्य,

मन की स्थायी प्रसन्नता, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले, रसयुक्त चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय-ऐसे आहार अर्थात् भोजन करने कराने को सात्त्विक आहार कहते हैं । उदर के दो भाग अन्नसे एक भाग जल से पूर्ण करके चतुर्थ अंश को खाली रख छोड़ना यही परिमित आहार है ।

दुःखों का नाश करनेवाला ज्ञान तो यथा योग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथा योग्य चेष्टा करने वाला का और यथायोग्य शयन करने वाले का तथा जागने वाला का ही सिद्ध होता है ।

शौच : शौच शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक तीन प्रकार के है । जल, साबुन् मिट्टी, आदि से शरीर के मल को छुड़ाना यह बाह्य शौच है । तथा मन के द्वारा शुद्धभावों का जो मनन है, उसे मानसिक शौच कहते हैं । इसके अतिरिक्त 'मैं' विशुद्ध आत्मा हूँ, इस ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ शौच आत्मिक स्नान कहते हैं । यह शरीर अत्यन्त मलिन है और देहधारी आत्मा अत्यन्त निर्मल है, इस प्रकार शरीर और आत्मा का अन्तर जान लेने पर किसको पवित्र किया जाय ?

जो मनुष्य ज्ञान शौच 'मैं ब्रह्म हूँ' इस भाव का परित्याग करके, गंगा, यमुना, बद्रि, केदारादि बाह्य शौच में ही रमा रहता है, वह मूढ़ स्वर्ण को त्याग कर मिट्टी के ढ़ेले का संग्रह करता है ।

हे आत्मन् ! ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त एवं कृतार्थ हुए ज्ञानी के लिये कोई भी वेद वीहित कर्तव्य कर्म करना शेष नहीं रहता । ''तस्य कार्यं न विद्यते'' यदि वह अपने लिये कोई कर्म, उपासना योगादि साधन कर्तव्य रूप मानता है । तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है । आत्मनिष्ठावान् ज्ञानी महापुरुषों के लिये तीनों कालों में कोई कर्तव्य नहीं है । इसलिए सब प्रकार से प्रयत्न करके अहिंसा, सत्य-क्षमा, शौचादि द्वारा आत्मा को अविनाशी ब्रह्म स्वरूप समझो ।

तप : मोक्ष क्या है तथा आत्मा कैसे और किस हेतु से संसार बन्धन को प्राप्त हुआ है, यह बन्धन किस साधन से तोड़ा जा सकेगा । इस प्रकार मन में चिन्तन करना ही तप है ।

सन्तोष: यथा प्राप्त में प्रसन्न बने रहना अधिक के लिये लोभ

न करना, झूठ न बोलना ही सन्तोष है ।

अथवा सर्वत्र आसक्ति रहित होकर ब्रह्मा,विष्णु, शंकर आदि देवताओं के लोक तक के सुखों से वैराग्य होने के कारण मन में जो एक स्वभाविक प्रसन्नता बनी रहती है । उसे ही सन्तोष माना जाता है ।

प्रत्याहार : विषयों में विचरने वाले मन को वहाँ से लौटाने का जो प्रयत्न है, उसी को प्रत्याहार कहते हैं ।

अथवा मनुष्य जो कुछ देखता है, ''वह सब ब्रह्म है'', इस प्रकार समझते हुए ब्रह्म में चित्त को एकाग्र कर लेना ही वेदान्त में प्रत्याहार है ।

आत्मतीर्थ तथा आत्मज्ञान की महिमा

जो इस आत्मतीर्थ अर्थात् अपने शरीर के भीतर रहने वाले साक्षी परमात्मा का परित्याग करके बाहर के तीर्थों में भटकना रहता है । वह हाथ में रक्खे हुए बहुमुल्य रत्न को त्याग कर काँच खोजता फिरता है । योगी पुरुष अपने आत्म तीर्थ में अधिक विश्वास और श्रद्धा रखने के कारण जल से भरे तीर्थों ओर काष्ठ आदि से निर्मित देव प्रतिमाओं की शरण नहीं लेते । बाह्यतीर्थ से श्रेष्ठ आन्तरिक तीर्थ ही है । आत्मतीर्थ ही महातीर्थ है । उसके सामने दूसरे तीर्थ निरर्थक है । शरीर में रहने वाला दुषित चित्त बाह्य तीर्थों में गोते लगाने से शुद्ध नहीं होता । जैसे मदिरा से भरा घड़ा या मुत्र से भरा बोतल सैकड़ों बार गंगाजी में डुबाया जाय, धोया जावे तो भी उसे कौन पवित्र मानेगा ? वह अपवित्र ही रहता है । (४-४८-५६)

नासिका और भौहों के मध्य में स्थित केदार, गंगा, यमुना, हरिद्वार, वाराणसी आदि तीर्थ है सोऽहम् भावना द्वारा स्नान करने से मनुष्य शुद्ध, बुद्ध मुक्त हो सकता है । ज्ञानयोग में तत्पर रहने वाले महात्माओं का चरणोदक अज्ञानि मनुष्यों के मलिन मन को शुद्ध करने के लिये उत्तम तीर्थ है ।

शिव स्वरूप परमात्मा इस शरीर में ही प्रतिष्ठित है; इनको न जानने वाला मूढ़ मनुष्य तीर्थ, दान, जप, यज्ञ, काठ, पीतल, चित्र, ग्रन्थ, पत्थर आदि में ही सर्वदा शिवको ढूंढा करता है । जो अपने भीतर नित्य–निरन्तर

स्थित रहने वाले आत्म ब्रह्म की उपेक्षा करके बाहर की स्थूल प्रतिमाओं में ही भटकते रहते हैं । उन्हीं का सेवन करता है, वह मूर्ख हाथ में रक्खे मिष्ठान्न को फेंककर अपनी कोहनी को चाटता है । योगी पुरुष अपने आत्मा में ही शिवका दर्शन करते है; प्रतिमाओं में नहीं । अज्ञानि मनुष्यों के हृदय में भगवान् के प्रति भावना जाग्रत् करने के लिये ही प्रतिमाओं की कल्पना की गयी है । मूर्ति के आकारों में उस ब्रह्म के प्रति जो कारण रूप है उसके प्रति ध्यान आकर्षित कराना मात्र ही प्रयोजन था । कार्य ब्रह्म की उपासना तो निमित्त मात्र के लिये है । मुख्य तो चैतन्य सर्वव्यापि कारण ब्रह्म की ही उपासना करना श्रेय है । जैसे मां बच्चे को मिठाई का लालच देकर उसमें कड़वी दवा खिलाना चाहती है । किन्तु प्रयोजन तो उसे रोग से मुक्ति दिलाता है । मिठाई का तो बहाना है बच्चे को लुभाने हेतु । (४६-५१)

जिससे भिन्न न कोई पूर्व है न पर है । न कारण है न कार्य है । जो सत्य अद्वितीय और प्रज्ञान घन स्वरूप है उस आनन्दमय ब्रह्म को जो अपने आत्मा के रूप में देखता है, वही यथार्थ देखता है । यह अपवित्र नश्वर मांस हाड़ युक्त शरीर से आसक्ति त्याग कर इसके प्रति आत्मभाव को बुद्धि के द्वारा परित्याग कर यह निश्चय करो कि मैं ही परमात्मा हूँ । जो इस शरीर में रहकर भी इससे पृथक, महान्, विभु तथा सबका ईश्वर है ''वह मैं हूँ'' इस भाव द्वारा ही धीर पुरुष उस आनन्द स्वरूप अविनाशी परमात्मा को साक्षात् अपरोक्ष जानकर मुक्त हो जाते हैं । (६०-६२)

ज्ञान के बल से ''परमात्मा अन्य है, मैं अन्य हूँ'' इस भेद जनक अज्ञान का नाश हो जाने पर कौन आत्मा और ब्रह्म में मिथ्या भेद का आरोप करेगा ? केवल मूर्खों के अतिरिक्त कोई नहीं । कोई ज्ञानी परमात्मा और देहस्थ चैतन्यात्मा में किंचित् भी भेद उसी प्रकार नहीं देखते, जैसे घटाकाश और मठाकाश के अन्तर्गत आकाश में भेद नहीं रहता ।

जो विद्वान् ज्ञानरूपी जल से अज्ञान रूपी मल (कीचड़) को धो डालता है, वही सर्वदा शुद्ध है, दूसरा नहीं क्योंकि वे अज्ञानिजन ज्ञान की निंदा करके अनित्यकर्मों में आसक्त रहते हैं ।

'नवम खण्ड'

जो समस्त संसार रूपी रोग से मुक्ति चाहते हैं वे अपनी बुद्धि में यह निश्चय करे कि "वह परब्रह्म परमात्मा मैं ही हूँ"।

दशम खण्ड

समाधि एवं उसका फल

परमात्मा और जीवात्मा की एकता के विषय में निश्चयात्मक बुद्धि का उदय होना ही समाधि है । यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापि, कूटस्थ-एकरस एवं सब प्रकार के दोषों से रहित है । यह अद्वितीय होते हुए भी माया जनित अज्ञान भ्रम के कारण अकर्ता होते हुए भी कर्ता-भोक्ता, अजन्मा होते हुए भी जन्मने वाला तथा अविनाशी होते हुए भी मृत्यु वाला ऐसा भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है । स्वरूपतः उसमें कोई भेद नहीं है, अतः केवल अद्वैत ही सत्य है, प्रपञ्च या संसार नाम की कोई वस्तु नहीं है । जैसे आकाश ही घटाकाश और महाकाश के नाम से पुकारा जाता है । उसी प्रकार अज्ञानि पुरुषों ने एक परमात्मा को ही जीव और ईश्वर इन दो रूपों में कल्पित कर लिया है । मैं न देह हूँ, न प्राण हूँ, न इन्द्रिय समुदाय हूँ और न मन ही हूँ, सदा साक्षी रूप में स्थित होने के कारण मैं एकमात्र शिव स्वरूप परमात्मा हूँ । मुनिश्रेष्ठ ! इस प्रकार की जो निश्चयात्मिका बुद्धि है, वही समाधि कहलाती है । (१-५)

मैं वह परमात्मा ही हूँ । संसार बन्धनों में बन्धा हुआ जीव नहीं हूँ, इसलिये मुझसे भिन्न किसी भी वस्तु की किसी भी काल में कोई सत्ता नहीं है । जैसे फेन और तरंग आदि समुद्र से ही उठते हैं और पुनः समुद्र में ही लीन हो जाते हैं । उसी प्रकार यह जगत् मुझमें ही उत्पन्न और विलीन होता रहता है । अतः सृष्टि का कारणभूत समष्टि मन भी मुझसे पृथक् नहीं है । यह जगत् और माया भी मुझसे अलग कोई अस्तित्व नहीं रखते ।

इस प्रकार जिस ज्ञानी पुरुष को यह परमात्मा अपने आत्म रूप से अनुभव होने लगते हैं वह परम पुरुषार्थ स्वरूप साक्षात् परमामृतमय परमात्म भाव को प्राप्त हो जाता है । जब योगी के मने में सर्वत्र व्यापक आत्म चैतन्य का अपरोक्ष अनुभव

होने लगता है, तब वह स्वयं परमात्मा स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । जब ज्ञानी महात्मा सब भूतों को अपने में ही देखता है, और अपने को ही सम्पूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित देखता है, तब वह साक्षात् ब्रह्म ही होता है । जब समाधि में स्थित पुरुष परमात्मा से अभिन्न भाव होकर अपने से भिन्न किसी भी भूत को नहीं देखता, तब वह केवल अपने परमात्म स्वरूप से प्रतिष्ठित होता है । जब मनुष्य केवल अपने आत्मा को ही परमार्थ - सत्य स्वरूप देखता है और सम्पूर्ण जगत् को माया का विलास मात्र मानता है, तब उसे परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है ।

जगत् की दुःख रूपता और आनन्द रूपता

अज्ञस्य दुःखौधमयं ज्ञात्यानन्दमयं जगत् ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम् ॥

- बराहो . २२

जैसे अन्धें के लिये जगत् अन्धकारमय है और अच्छी आखों वालों के लिये प्रकाशमय है, वैसे ही अज्ञानि के लिये जगत् दुःख का समूह है और ज्ञानी के लिये आनन्द मय है ।

FFF

कैवल्य उपनिषद्

कृष्णयजुर्वेदीय

आत्माका स्वरूप तथा उसे जानने का उपाय

सदा सन्त जनों के द्वारा परिसेवित, अत्यन्त गोपनीय तथा अतिशय श्रेष्ठ उस ब्रह्म विद्या को जानकर विद्वान् लोग शीघ्र ही सारे पापों को नष्टकर परात्पर पुरुष परब्रह्म को प्राप्त होते हैं । उस तत्त्व को श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग के द्वारा जानने का यत्न करना चाहिये । उसकी प्राप्ति न कर्म के द्वारा न यज्ञ के द्वारा, न धन के द्वारा, न सन्तान अथवा अन्य साधन के द्वारा ही हो सकती है । ब्रह्मज्ञानियों ने केवल त्याग

के द्वारा ही अमृतत्त्व को प्राप्त किया है । जिन्होंने वेदान्त के सविशेष ज्ञान से तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा परमतत्त्व का निश्चय कर लिया है, वे शुद्ध अन्तःकरण वाले योगीजन संन्यास योग के द्वारा ब्रह्मलोक में जाकर कल्प के अन्त में अमृत स्वरूप होकर मुक्त हो जाते हैं ।

वही ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर अव्यक्त अविनाशी परमेश्वर है; वही विष्णु है, वही प्राण है; वही सूर्य व चन्द्रमा है, जो कुछ भी है तथा आगे जो कुछ होगा वह सब वही आत्म ही है । उस सनातन तत्त्व को सोऽहम् रूपसे जानकर प्राणी मृत्यु के परे चला जाता है । फिर जहां जाकर न पुनः लोटना है न मृत्यु ही है । इस आत्मा के सोऽहम् रूप से जानने के अलावा अन्य कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है ।

'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

- श्वेता.उप. ६/१५

जो आत्म को सब भूतों में देखता है तथ सब भूतों को आत्म में देखता है वह परब्रह्म को प्राप्त होता है । दूसरे किसी उपाय से नहीं ।

आत्मा को अर्थात् अन्तःकरण को नीचे की अरणि तथा प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ज्ञानीजन ज्ञानरूपी मन्थन के द्वारा अभ्यास से संसार बन्धन को नष्ट कर देते हैं । अर्थात् ज्ञानाग्नि से जला डालते हैं ।

अज्ञानी जीव माया के वश अत्यन्त मोह ग्रस्त होकर शरीर को ही अपना स्वरूप मान सब प्रकार के कर्मों को करता है । वही जाग्रत अवस्था में स्त्री, धन, अन्नादि नाना प्रकार के भोगों को भोगता हुआ परितृप्त लाभ करता है । वही जीव स्वप्नावस्था में अपनी माया से कल्पित जीव लोक में सुख-दुःख का भोक्ता बनता है और सुषुप्ति काल में सारे मायिक प्रपञ्च के विलीन होने पर वह तमोगुण से अभिभूत होकर सुख-स्वरूप को प्राप्त होता है । पुनः जन्मान्तरों (प्रारब्ध) के कर्मों की प्रेरणा से वह जीव सुषुप्ति से स्वप्न में उतरता है और उसके बाद जाग्रत अवस्था में आता है । इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रूपी तीनों पुरों में जो जीव क्रीड़ा करता है उसी से यह सारा प्रपञ्च-वैचित्र्य उत्पन्न होता है ।

इस समस्त प्रपञ्च का आधार आनन्द स्वरूप अखण्ड बोध है - जिसमें

स्थूल, सूक्ष्म, और कारण-शरीर रूपी तीनों पुर लय को प्राप्त होते हैं । उसी से प्राण उत्पन्न होते हैं । मन और सारी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं । आकाश, वाय, तेज, जल और सारे विश्वको धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है ।

जो परब्रह्म सबका आत्मा है, समस्त कार्य कारण रूप विश्व का महान् आयतन अर्थात् आधार है, जो सूक्ष्म-से सूक्ष्म है, अविनाशी है, वही तुम हो, तुम वही हो । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि जो प्रपञ्च भासमान है, वह ब्रह्म स्वरूप है । और वही मैं हूँ, इस प्रकार जानकर जीव समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है । (१६) तीनों धाम जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में जो कुछ भोक्ता, भोग्य और भोग है, उनसे विलक्षण साक्षी, चिन्मात्र स्वरूप सदाशिव मैं हूँ (१८) मुझ में ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है, मुझ में ही सबकुछ प्रतिष्ठित हुआ है । मुझ में ही सब लय को प्राप्त होते हैं । वह अद्वय ब्रह्म स्वरूप मैं ही हूँ । (१९) मैं अणु से अणु हूँ, इसी प्रकार मैं महान् से महान् हूँ, यह विचित्र विश्व मेरा ही स्वरूप है । मैं पुरातन पुरुष हूँ, मैं ईश्वर हूँ , मैं हिरण्यगर्भ पुरुष हूँ, मैं शिव स्वरूप हूँ । वह पाणि-पाद विहीन अचिन्त्यशक्ति परब्रह्म मैं ही हूँ । मैं नेत्रों के बिना देखता हूँ, कानों के बिना सुनता हूँ, बुद्धि आदि से पृथक् होकर मैं ही जानता हूँ, मुझे कोई जानने वाला नहीं है । मैं सदा चित्त स्वरूप हूँ, समस्त वेद मेरा ही ज्ञान कराते हैं, मैं ही वेदान्त का कर्ता हूँ, समस्त वेद मेरा ही ज्ञान करते हैं । वेद वेत्ता भी मैं हूँ । मुझे पुण्य-पाप नहीं लगते, मेरा कभी न तो नाश होता है और न कभी जन्म ही होता है । और न मेरे लिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, ही है । मेरे लिये न भूमि है न जल है, न अग्नि है, न वायु, है और न आकाश ही है । जो इस प्रकार गुहा बुद्धि के गह्वर में स्थित निष्कल (अवयव हीन) और अद्वितीय, सत-असत् से परे सबके साक्षी अपने परमात्मा स्वरूप को सोऽहम् रूप से जानता है, वह उसको निश्चय ही प्राप्त होता है ।

इस आत्मतत्त्व का उन परमहंसो को सदा सर्वदा अथवा कम से कम एक बार मनन अवश्य करना चाहिये । इसके विचार द्वारा उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो भव सागर का नाश कर देता है । इसलिये इसको इस प्रकार जानकर मनुष्य कैवल्य मुक्ति को प्राप्त होता है । इस प्रकार आत्म चिन्तन द्वारा सभी प्रकार के पाप भस्म हो जाते हैं ।

'दृष्टिं ज्ञानमयी कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्'

- शंकराचार्य

दृष्टि को ज्ञान (ब्रह्म) मयी करके जगत् को ब्रह्म मय देखें ।

FFF

कठरुद्रोपनिषद्

कृष्णयजुर्वेदीय

जो जगत् का प्रकाशक है नित्य प्रकाश के रूप में अपने द्वारा ही प्रकाशित है वही जगत् का साक्षी, निर्मल आकृति वाला सबका आत्मा है । वह प्रज्ञान घन स्वरूप है, सब प्राणी उसी में प्रतिष्ठित है । मनुष्य न कर्म द्वारा न सन्तान के द्वारा और न अन्य किसी साधन के द्वारा बल्कि ब्रह्मानुभव के द्वारा ही ब्रह्म को प्राप्त होता है, हुआ है एवं कर सकता है । अन्य कोई साधन ही नहीं । वह सत्य-ज्ञान-आनन्द- रूप अद्वितीय ब्रह्म इस माया, अज्ञान गुहा आदि नामों से कहे जाने वाले संसार में व्याप्त है तथा केवल ब्रह्म विद्या (आत्म विद्या, पराविद्या) के द्वारा जाना जा सकता है । अज्ञान और माया शक्ति के साक्षी प्रत्यागात्मा का जो 'मैं एक ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार जानता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है । (७-१२)

समस्त शरीरधारियों का यह जो अन्नमय आत्मा स्थूल शरीर प्रकाशित हो रहा है । उससे भिन्न एक प्राणमय आत्मा और है । जो इस अन्नमय आत्मा के भीतर स्थित है । उस से भी सूक्ष्म दूसरा मनोमय आत्मा है । जा इस प्राणमय आत्मा के भीतर स्थित है । उस मनोमय आत्मासे भिन्न एक विज्ञानमय आत्मा है जो मनोमय के भीतर स्थित है । इस विज्ञान मय आत्मा के भितर एक सूक्ष्म आनन्दमय आत्मा स्थित है । आनन्दमय आत्मा प्राणमय से भरा है । प्राण मनोमय से पूर्ण है मनोमय विज्ञान मय से पूर्ण है तथा सुख स्वरूप विज्ञान मय आत्मा आनन्द से परिपूर्ण है । उसी प्रकार आनन्दघन आत्मा अपने से भिन्न साक्षीरूप सर्वव्यापि, सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के द्वारा परिपूर्ण है । वह ब्रह्म किसी दूसरे के द्वारा नहीं बल्कि स्वतः सब और से परिपूर्ण है । स्वयं प्रकाश स्वरूप है । यही सबका सत्य स्वरूप

ज्ञान स्वरूप आनन्द स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म ही आधार मात्र है । बाकी सब कल्पना मात्र है । और वह स्वयं मैं ही हूँ । ऐसा दृढ़ निश्चय ही मोक्ष का हेतु कहागया है । (१३-२५) । इसके अतिरिक्त सुख कहीं नहीं है ।

भेद ही मृत्यु का कारण है जब तक तनिक भी मनुष्य को जीव ब्रह्म में अन्तर - व्यवधान दीख पड़ता है तब तक उसे जन्म-मृत्यु भय खाता रहेगा । उसमें सन्देह नहीं । इस लोक तथा परलोक के भोगों से विरक्त प्रसन्न चित्तवाले श्रोत्रिय को यह स्वरूप भूत आनन्द स्वयं ही अनुभव होता है ।

अतएव परतत्त्व को प्राप्त करने में पांचों कर्मेन्द्रियाँ एवं पाचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं उनके विषय असमर्थ है क्योंकि ये सीमित शक्ति सम्पन्न है । जो सब विषयों से रहित परानन्द रूप तत्त्व है वहाँ शब्द की गमन नहीं ।

जो साधक उस द्वन्द रहित निगुर्ण, सत्य स्वरूप,और विज्ञानघन ब्रह्मानन्द को 'यह मेरा ही स्वरूप है' 'सोऽहम्' इस प्रकार जान लेता है । उसे कभी भी भय नहीं होता । जो अदृश्यत्व आदि लक्षणों से युक्त इस परतत्त्व से अभेद रूप परमाद्वैत को प्राप्त कर लेता है । वही महासंन्यासी है । चाहे वह पूर्ण ग्रहस्थ ही क्यों न हो और जो इस प्रकार अपने स्वरूप में शंका करने वाला है या इस से अवगत नहीं है वह ब्रह्मचारी भी पशु तुल्य है ।

माया कृत उपाधियों से अत्यन्त मुक्त ब्रह्म शुद्ध चैतन्य कहलाता है । माया के सम्बन्ध से वह ईश्वर है तथा अविद्या के वशीभूत वही जीव है । तथा अन्तःकरण के सम्बन्ध से वही प्रमाता है । याने ज्ञाता कहलाता है । उस अन्तःकरण की वृत्ति के सम्बन्ध से ही वह प्रमाता अर्थात् ज्ञाता संज्ञा को प्राप्त होता है । वह चैतन्य जब तक अज्ञात् है, तब तक प्रमेयकोटि में आता है । और वह चैतन्य जब ज्ञात हो जाता है तो फल कहलाता है । अतएव मुमुक्षुगण अपने आपको मैं शुद्ध, बुद्ध सब उपाधियों से मुक्त हूँ - इस प्रकार चिन्तनकरें । इस प्रकार जो तत्त्व से अपने को जानता है वह ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

''मुझमें जीवत्व तथा ईश्वरत्व कल्पित है, वास्तविक नहीं, इस प्रकार जो जानता है, वह मुक्त है । – इस में तनिक भी सन्देह नहीं ।''

- सरस्वती रहस्योपनिषद ३३

जीव स्वयं आपने ही कर्मों से उत्पन्न होता है, स्वयं ही मरता है और स्वयं ही अवशिष्ट रहता है । यह सब आत्मा की क्रीड़ा है, आत्मा के सिवा कोई दूसरा तत्त्व नहीं है । जो सबका अधिष्ठान, द्वन्दातीत, सच्चिदानन्द स्वरूप, सनातन परब्रह्म, मन और वाणी के अगोचर है उसको भली भांति जान लेने पर यह सब ज्ञात हो जाता है । क्योंकि सब कुछ उसका ही स्वरूप है । उससे भिन्न कुछ भी नहीं है ।

दो विद्याए जानने योग्य है । एक परा तथा दूसरी अपरा । अपरा विद्या के अन्तर्गत आत्मविषय के अतिरिक्त ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द, और ज्योतिष तथा अन्य सब प्रकार के बौद्धिक ज्ञान का समावेश है । अब परा विद्या वह है जिस में आत्म सम्बन्धी ज्ञान होता है, वह आत्म तत्त्व परम अविनाशी है । वह देखने में नहीं आता, ग्रहण नहीं किया जाता है । नाम-रूप और गोत्र से वर्जित है ।उनके कोई इन्द्रिय नहीं है । वह विषयातीत है । वह नित्य है विभू है, सर्वगत सूक्ष्म सदा अविकारी है । उसे धीर पुरुष अपने आत्मा मे ही देख सकते हैं ।

जो सर्वज्ञ है -- जिसे तीनों काल का ज्ञान है जो सम्पूर्ण विद्याओं का आश्रय है, ज्ञान ही जिसका तप है उसी से भोक्ता एवं अन्तरूप में यह समस्त भोग्य जगत् उत्पन्न होता है । जो जगत् सत्य की तरह प्रतीत होता है वह सब उस उस ब्रह्म में उसी प्रकार स्थित है जैसे अन्धकार में पड़ी रज्जु में सर्प स्थित है । वही यह अविनाशी ब्रह्म सत्य है जो उसे जानता है, वह मुक्त हो जाता है । ज्ञान से ही संसार बन्धन का नाश होता है । सहस्त्रों कर्मों से नहीं । अतएव मुमुक्षु को विधिपूर्वक (गीता ४/३४) किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर 'अहं ब्रह्मास्मि' 'वह परमात्मा मैं ही हूँ' ऐसा दृढ़ निश्चय करके शोक रहित हो जाना चाहिये । केवल गुरु ही पराविद्या को प्रदान कर सकते हैं, शास्त्र नहीं ।

(रुद्रहृदोपनिषद)

FFF

नादबिन्दु उपनिषद्

द्वितीय अध्याय

'ज्ञानी के लिये प्रारब्ध का अभाव'

हे महामते ! निरन्तर प्रयत्न करके आत्मा के स्वरूप को जानकर उसीके चिन्तन में अपना समय व्यतित करो । समस्त प्रारब्ध कर्मों के भोगों को भोगते हुए तुम्हे उद्विग्न नहीं होना चाहिये । आत्मज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध स्वयं नहीं छोड़ता परन्तु जब तत्त्वज्ञान उदय हो जाता है, तब ज्ञानी की दृष्टि में प्रारब्ध कर्म का उसी प्रकार अभाव हो जाता है, जिस प्रकार स्वप्न लोक के देहादिक असत् होने के कारण जागने पर नहीं रह जाते । जन्मान्तर के किये हुए जो कर्म हैं वे ही प्रारब्ध कहे गये हैं । परन्तु ज्ञानी के लिये तो जन्मान्तर ही नहीं रहता अतः उसके लिये प्रारब्ध भोग भी नहीं रहता । जिस प्रकार स्वप्न कालीन देह, देह नहीं होती, केवल अध्यासमात्र होती है । उसी प्रकार यह जाग्रत-काल का शरीर भी अध्यास मात्र है । अध्यस्त पदार्थ की उत्पत्ति कहाँ होती है ? और जिसकी उत्पत्ति नहीं उसकी स्थिती कहाँ ? जैसे रज्जु में सर्प का अध्यास (भ्रम) होने पर रज्जु में सर्प नतो पैदा ही होता है न उसकी वहाँ स्थित ही रहती है । इस प्रपञ्च का उपादान कारण आत्मा ही है । जिस प्रकार मिट्टी के पात्रों का उपादान मिट्टी है । वेदान्त के अनुसार यह प्रपञ्च अज्ञान के कारण आत्मा में भासता है । यदि अज्ञान नष्ट हो जावे तो प्रपंच विश्व भासमान नहीं हो सकेगा । जैसे भ्रम से रज्जु बुद्धि का त्याग कर उसे सर्प बुद्धि से ग्रहण करता है । उसी प्रकार अज्ञानि पुरुष को सत्य आत्मा का ज्ञान न होने के कारण प्रपंच को देखता है । किन्तु जब सामने रस्सी के टुकड़े को अच्छी तरह पहचान लेने पर उसमें प्रतीत होने वाला अध्यस्त सर्प बुद्धि में नहीं रहता केवल अधिष्ठान रस्सी ही रह जाती है, उसी प्रकार अधिष्ठान रूप आत्मा का ज्ञान होने पर अध्यस्त जगत् शून्य हो जाता है । तब अपना देह भी भौतिक तत्त्वों से निर्मित होने के कारण प्रपञ्च रूप होने से उसके साथ ही शून्यता में परिणत हो जाता है । उस अवस्था में प्रारब्ध की स्थिति कैसे एवं कहा रह सकती है ? अज्ञानि जनों को समझाने के लिये ही प्रारब्ध की बात कही जाती है ।

अमृतनादोपनिषद्

प्रणव नामक घोष बाह्य प्रयत्न से उच्चारित होने वाला नहीं है । यह व्यञ्जन नहीं है । स्वर भी नहीं है । कण्ठ, तालु, ओष्ठ और नासिका से उच्चारित

होने वाला (सानुनासिक) भी नहीं है । यह रेफ जातीय अर्थात् मूर्द्धा से उच्चारित होने वाला भी नहीं है । दोनों ओष्ठों के भीतर स्थित दन्त नामक स्थान से भी इसका उच्चारण नहीं हो सकता । यह वह अक्षर है, जो कभी क्षरित च्युत नहीं होता अर्थात् यह सोऽहम् नाद श्वाँस-प्रश्वाँस रूप से नित्य प्रकृति में विद्यमान रहता है । कहने का तात्पर्य यह कि निरन्तर सोऽहम् नाद के रूप में मन को उसमें लगाये रखना चाहिये । (२४)

FFF

शुकरहस्योपनिषद्

(कृष्णययुजुर्वेदीय)

तृतीय खण्ड

चारों महावाक्यों की पद विन्यास पूर्वक व्याख्या

महावाक्य चार है । **१- 'ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म' २- 'ॐ अहं ब्रह्मास्मि', ३- 'ॐ तत्त्वमसि', ४- 'ॐ अयमात्मा ब्रह्म'**

'ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म' : (ऋगवेद)

१ - जिसके द्वारा प्राणी देखता है, इस जगत् के विषयों को सुनता है, सूँघता है, वाणी द्वारा कहता है और स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट को पहचानता है - (रसज्ञान करता है), उसे 'प्रज्ञान' कहा गया है । समस्त चराचर में एक ही चेतन तत्त्व ब्रह्म है वही चतुर्मुख ब्रह्माजी, देवराज इन्द्र, देवगण, मनुष्य घोड़े हाथी, गाय-प्रभृति पशुयों में एक ही चेतन ब्रह्म है । वही प्रज्ञान (ज्ञान स्वरूप) ब्रह्म मुझ में भी है । उसी को 'प्रज्ञान ही ब्रह्म है' अथवा 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि वाक्यों से प्रकट कियाजाता है ।

२- 'ॐ अहं ब्रह्मास्मि' : (यजुर्वेद)

ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने के अधिकारी इस मानव देह में परिपूर्ण परमात्मा बुद्धि के साक्षी रूप अवस्थित होकर स्फूरित होने पर 'अहं' कहे जाते हैं । स्वतः पूर्ण

परमात्मा यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से वर्णित हैं तथा 'अस्मि' (मैं हूँ) यह पद उनके साथ अपनी एकता का बोध कराता है । अतः मैं ब्रह्म स्वरूप ही हूँ ।

३- **'तत्त्वमसि'** : (सामवेद)

सृष्टि के पूर्व एक मात्र द्वैत की सत्ता से रहित, नाम-रूप हीन सत्ता थी । और अब भी वह सत्ता वैसा ही है । 'तत्' पद से यह परमात्मा प्रति पादित होता है । उपदेश श्रवण करने वाले शिष्य का जो देह और इन्द्रियों से अतित स्वरूप है । यहाँ महावाक्य के 'त्वं' पद से वर्णित है तथा महावाक्य के 'असि' पद के द्वारा उन 'तत्' एवं 'त्वं' पदों के बोध ब्रह्म और जीव की एकता का ग्रहण कराया गया है । उस एकत्व का अनुभव करो ।

४- **'अयमात्मा ब्रह्म'** : (अथर्ववेद)

'अयम्' पद के द्वारा स्वतः प्रकाश अपरोक्ष नित्य प्रत्यक्ष स्वरूप का वर्णन हुआ है । अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त को पत्यागात्मा बताया गया है । दिखायी पड़ने वाले सम्पूर्ण जगत् में जो सूक्ष्म व्यापक तत्त्व है वही ब्रह्म शब्द से वर्णित है वह ब्रह्म स्वतः प्रकाश आत्म स्वरूप है ।

अनात्मा में आत्मदृष्टि करने से ही जीव अज्ञान की निद्रा में पड़कर 'मैं' और 'मेरे' की प्रतीति कराने वाली स्वप्नावस्था में आ पहुँचा था । किन्तु श्री गुरुदेव की कृपा से महावाक्यों के पदों का स्पष्ट उपदेश दिये जाने पर स्वरूप रूपी सूर्य के उदित हो जाने से अज्ञान निद्रा में सोया पुरुष जाग जाता है । तथा उस ज्ञान में स्थिति ही मोक्ष है ।

महावाक्यों के अर्थ को समझने के लिये वाच्य और लक्ष्य इन दोनों ही अर्थों की प्रणाली का अनुसरण करना चाहिये । वाच्य-सरणी के अनुसार भौतिक इन्द्रिय आदि भी 'त्वं' पद के वाच्य जीव होता है; किन्तु लक्ष्यार्थ वही है, जो इन्द्रियों से अतीत विशुद्ध चेतन है । इसी प्रकार 'तत्' पद का अर्थ वाच्य तो ईश्वरत्व सर्वज्ञत्व आदि गुणों से विशिष्ट परमात्मा है । किन्तु लक्ष्यार्थ है - केवल सच्चिदानन्दमय ब्रह्म । अतः यहाँ भाग-त्याग लक्षणा से 'असि' पद के द्वारा उक्त दोनों पदों के लक्ष्यार्थ को ही लेकर जीव और ब्रह्म की एकता बतायी जाती है ।

भाग-त्याग लक्षणा विधि

त्वं और 'तत्' - ये कार्य (शरीर) तथा कारण (माया) रूप उपाधिके द्वारा ही दो है। उपाधि न रहने से दोनों ही एक मात्र सच्चिदानन्द स्वरूप है। जैसे जगत् में भी 'यह वही' रामकृष्ण' है (जो पूर्व इलाहबाद में मिला था) इस वाक्य में 'यह' और 'वह' इन दोनों वचनों का हेतु भूत देशकाल का अन्तर छोड़ने से एक ही राम कृष्ण निश्चित होता है। यह जीव कार्य (शरीर) की उपाधि से युक्त है और ईश्वर कारण (माया) की उपाधि सहित है। कार्य एवं कारण रूप दोनों उपाधि को छोड़देने से पूर्ण ज्ञान स्वरूप शुद्ध ब्रह्म ही बच रहता है।

श्रवणं तु गुरोः पूर्व मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासन नित्येतत्पूर्ण बोधस्य कारणम्॥

- शुक, ३/१३

पहले गुरु के द्वारा श्रवण करे। अनन्तर मनन किया जाय। फिर निदिध्यासन करे। यह पूर्ण बोध का कारण है। ब्रह्म विद्या का सम्यक् ज्ञान स्थिर ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला है। गुरु अपने शिष्य को षड' सहित ही महावाक्यों का उपदेश करे केवल महावाक्यों का नहीं। (विचार चन्द्रोदय १६ कलामें)

दूसरी विद्याओं का ज्ञान निश्चय ही नश्वर है, किन्तु ब्रह्मविद्या का सम्यक ज्ञान स्थिर ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला है।

ॐ अस्य श्री महावाक्य महामन्त्रस्य हंस ऋषिः। अव्यक्त गायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्ति सोऽहं कीलकम्। मम परहंस प्रीत्यर्थे। महावाक्यजपे विनियोगः

FFF

त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्

पञ्चम अध्याय

संसार से तरने का उपाय और मोक्ष मार्ग का निरूपण

निन्दनीय, अनन्त जन्मों में बार-बार किये हुए अत्यन्त पुष्ट अनेक प्रकार के विचित्र अनन्त दुष्कर्मों के वासना समुहों के कारण जीव को शरीर एवं आत्मा के पृथकृत्व का ज्ञान नहीं होता। इसी से 'देह ही आत्मा है' ऐसा अत्यन्त दृढ़ भ्रम हुआ रहता है।' 'मैं अज्ञानि हूँ'। 'मैं अल्पज्ञ हूँ', 'मै जीव हूँ', 'मैं अनन्त दुःखों का निवास हूँ'। 'मैं अनन्त काल से जन्म-मरण रूप संसार में पड़ा हूँ'। इस प्रकार के भ्रम की निवृत्ति का उपाय कदापि नहीं करता है। तथा भ्रम की वासना के कारण संसार में ही चेष्टा करता रहता है। इन प्रवृति का निवृत्ति का उपाय कभी नहीं करता मिथ्या स्वरूप स्वप्न के समान विषय भोगों का अनुभव करने असंख्य जो कभी पूर्ण नहीं होने वाले संकल्प कर अनेक मनोरथों की निरन्तर आशा करता हुआ सदा अतृप्त जीव सदा दौड़ा करता है। कर्म की डोरी में बन्धा यह जीव कभी ऊपर कभी नीचे (स्वर्ग, मृत्युलोक) दौड़ा करता है। संसार के निवृत्ति मार्ग में उसकी कभी रुचि भी नहीं होती। अनेक प्रकार के विचित्र स्थूल, सूक्ष्म, उत्तम, अधम, अनेकों शरीरों को धारण करके शुभ अशुभ प्रारब्ध कर्मों का भोग भोग कर के उन-उन कर्मफलों की वासना से लिप्त अन्तःकरण वालों की बारम्बार उन-उन कर्मों के फल रूप विषयों में ही प्रवृत्ति होती है। इसलिये इसको अनिष्ट भी इष्ट तथा इष्ट (आत्मज्ञान) भी अनिष्ट की भांति जान पड़ता है। इसीलिये सभी मनुष्य को अपनी मान्यतानुसार उनके इष्ट विषयों में सुख बुद्धि है तथा उसके न मिलने पर दुःख बुद्धि है। वास्तव में अवाधित ब्रह्मसुख के लिये तो प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती अर्थात् रूचि ही उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि उसके स्वरूप का ज्ञान ही जीवों को नहीं है; बन्धन कैसे होता है और मोक्ष कैसे होता है, इस विचार का ही उनमें अभाव है। जीवों में भक्ति ज्ञान, वैराग्य की वासना न होने से और उस वासना के अभाव का मूल कारण अन्तःकरण की मलिनता ही एकमात्र कारण है। ऐसी स्थिति में संसार सागर से उस पार जाने का उपाय केवल किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरणागति ही है। वह शरणागति एवं संत मिलन भी अनेक जन्मों के किये हुए अत्यन्त श्रेष्ठ पुण्यों के फलोदय से सम्पूर्ण वेद-शास्त्र के सिद्धान्तों का रहस्य रूप सत्पुरुषों का संग प्राप्त होता है। उस से कर्तव्य अकर्तव्य, नित्य-अनित्य, सत्य-असत्य का ज्ञान होता है। अनाचार दुराचार से मन हट कर सदाचार में प्रवृत होता है। सदाचार से सम्पूर्ण पापों का नाश हो जाता है। पापनाश से अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है।

तब अन्तःकरण सद्गुरु की दयादृष्टि चाहता है । सद्गुरु के कृपा कटाक्ष के लेशमात्र से ही सब सिद्धियाँ (आत्म ज्ञान सम्बधी ज्ञान) प्राप्त हो जाता है । जैसे जन्मान्ध को रूप का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार गुरु के उपदेश बिना करोड़ों कल्पों में भी तत्त्वज्ञान नहीं होता । इसलिये गुरु कृपा ही केवल तत्त्वज्ञान को प्रदान करा सकती है ।

फिर साधक गुरुद्वारा हंस-मन्त्र (सोऽहम्) का मनन करता हुआ सभी इन्द्रिय द्वारों को संयम करके मन का भली प्रकार निरोध करता है ।

गुरु कौन ? : आत्मा

गुरु साक्षात् आदि नारायण पुरुष है । 'वह आदि नारायण मैं ही हूँ' इसलिये एक मात्र मेरी (आत्मा) शरण में आओ । मेरी भक्ति में निष्ठावान बनो, मेरे उपासना करो । मेरे अतिरिक्त कुछ भी नही है, अद्वितीय निरतिशय आनन्द मैं ही हूँ । सब प्रकार से परिपूर्ण मैं ही हूँ । मैं ही सब भूतों का आश्रय हूँ निराकार परब्रह्म स्वरूप मैं ही हूँ ।

FFF

नारद परिब्राजकोपनिषद

मुमुक्षु लड़की अथवा लड़का जिसकी जिह्वा, शिश्नेन्द्रिय, उदर और हाथ आदि सभी इन्द्रियाँ भलीभाँति वश में हों, तथा जिसने ग्रहस्थ में पदार्पण न किया हो ऐसा ब्रह्मचारी अथवा ब्रह्मचारिणी ब्राह्मण ही संन्यास ले । कर्म ही प्रवृति का लक्षण है । तथा ज्ञान ही संन्यास का लक्षण है । अतः बुद्धिमान् पुरुष ज्ञान के सामने रखकर ही यहाँ संन्यास ग्रहण करें ।

जब परमात्मा के परमतत्त्व रूप सनातन ब्रह्म का ज्ञान हो जाय तब साधक एक दण्ड धारण करके यज्ञोपवित सहित शिखा को त्याग दे जो समस्त बाह्य वस्तु से विरक्त तथा केवल परमात्मा ही में अनुरक्त है । जिनके मन में लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा ये सभी एषणाएँ निकलगई है । तथा मैं ही वासुदेव नाम से प्रसिद्ध अद्वितीय अविनाशी ब्रह्म हूँ । ऐसा भाव जिसका दृढ़ होगया हो; वही भिक्षान्न भोजन (संन्यास लेने) का अधिकारी है । जैसे साधारण मनुष्य पुष्पों से

पूजित होने पर प्रसन्न होता है, वैसी ही प्रसन्नता डन्डे से पिटनेपर भी रहे वही व्यक्ति भिक्षु होने का अधिकारी होता है । मैं ही वासुदेव नाम से प्रसिद्ध अद्वितीय अविनाशी ब्रह्म हैं - ऐसा भाव जिसके मन में दृढ़ हो गया है वही भिक्षान्न भोजन का अधिकारी है ।

इन्द्रियों के वश करने, किसी से भी राग-द्वैष न करने सब में समान आत्म भाव रखने एवं प्राणी मात्र की हिंसा न करने से मनुष्य मोक्ष का अधिकारी होता है ।

यह शरीर रोगों का घर है, फिर भी जो व्यक्ति स्नायुजाल की डोरी से इस बंधेहुए मांस और रक्त से थोपा हुआ हड्डियों के खंभे द्वारा खडा हुआ चमड़े, पीब, नाड़ी, मज्जा, मल, मुत्र से सदा ही पूर्ण रहने वाले दुर्गन्धयुक्त रज वीर्य के संयोग से बने चमड़े से ढके हुए शरीर में प्रीति या अहंकार करता है, वह नरक से भी अवश्य प्रेम करेगा । इस शरीर में जो अहंभाव है, वही भयानक दुःखरूप नरक का मार्ग है । शरीर में होने वाली अहंता कुत्ते का मांस खाने वाली चाण्डालिनी के समान है । देह में अहंकार करने वाले मानव एवं मल, मुत्र, पीव, सड़े मांस में होने वाले कीड़ों में कोई अन्तर नहीं है ।

स्त्री शरीर का वह योनि द्वार, गुप्तांग क्या है ? दो भागों विदीर्ण हुआ चर्म खण्ड मात्र । वह भी अपान वायु एवं दुर्गन्धपूर्ण रस से भीगा रहता है उस गुप्तांग और जांघ पर पके हुए घाव या फोड़े से बहता हुआ रक्त, पीव में क्या अन्तर है । जो कामी लोग उसमें जिह्वाडाल रमण करते हैं उनको नमस्कार है ।

शिक्षा, यज्ञोपवीत, पिता, पुत्र, स्त्री, कर्म, अध्ययन एवं अन्यान्य मन्त्रों का जप त्याग कर ही आत्मवेत्ता पुरुष परिब्राजक (संन्यासी) होता है । जो सत्य, ज्ञान आदि लक्षणों से युक्त है वही ब्रह्म है । वही उपासने के योग्य है ।

विद्वान पुरुष शिखा सहित सम्पूर्ण सिर के बालों का मुडंन कराके शरीर पर यज्ञोपवीत के रूप में धारण किये जाने वाले बाह्य सूत्रों को त्याग दे और जो अविनाशी परब्रह्म परमात्मा है उन्हीं को सब में व्यापक सुत्र रूप समझकर अपने भीतर धारण करे । जो ज्ञान का हेतु है उसे सूत्र कहते हैं । अतः 'सूत्र' परमपद का नाम है । जिसने उस परमपद सूत्र को जान लिया है वही वेदों का पारगामी

ब्राह्मण है । जैसे सूत्रों में मन के पिरोये हुए होते हैं । उसी प्रकार जिस परमात्मा में यह सम्पूर्ण जगत् पिराया हुआ है, वही मुख्य ज्ञान प्रकृत सूत्र यज्ञोपवीत रूप धारण करना है । वह तो सब में व्याप्त ही है । मणियों में सूत्र की तरह समस्त विश्व उसी में गुथा हुआ स्थित है । अतः उस सूत्र को ज्ञान रूप से धारण करना है । सूत्र रूप से नहीं । अतः योग का ज्ञाता तत्त्वदर्शी उस आत्म ज्ञान रूपी सूत्र को धारण करे । विद्वान् पुरुष उत्तम ज्ञानयोग का सहारा लेकर बाह्य सूत्र का त्याग करे और इस ब्रह्म स्वरूप नित्य सुत्र को धारणकर वही सत्य है । उस ब्रह्म स्वरूप सूत्र को धारण करने से संन्यासी सदा पवित्र दशा में ही विचरता है । ज्ञान रूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले जिन संन्यासियों के भीतर वह ब्रह्मरूपी सूत्र का दृढ़ निश्चय अर्थात् भासमानता (विद्यमान) होती है, वही इस संसार में इस यज्ञोपवीत सूत्र के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले ब्रह्मचारी संन्यासी है । संन्यासी ज्ञानमयी शिखा धारण करने का नाम है । *(जो ब्राह्मण आदि वैदिक कर्म के अधिकारी है, उन्हीं को यह बाह्य सूत्र - योज्ञपवीत धारण करना चाहिये । क्योंकि वह ब्रह्मचारियों के लिये कर्म का अंग माना गया है ।)*अतः ज्ञान में स्थित होकर ज्ञान की ही शिखा यज्ञोपवीत ग्रहण करें । ज्ञान ही सब से बड़ा एंव पवित्र पुरुषार्थ है । (गीता : ४/३८)

जो लोग केवल केश धारण करते है । सूत्र धारण करते है वह वास्तविक शिखाधारी संन्यासी नहीं है । यह तो वैदिक कर्म के अधिकारी माने जाते हैं । जिनका फल स्वर्ग । किन्तु वास्तविक ज्ञानमयी शिखा और ज्ञानमय यज्ञोपवीत है, उसी में पूर्ण रूप से ब्राह्मणत्व प्रतिष्ठित है । बाह्य वेश, केश, सूत्र में नहीं । ब्रह्मज्ञ पुरुष यही मानते हैं । हंस से जो ऊंचे परमहंस है उनके लिये स्नान का भी बन्धन नहीं है ।

इस प्रकार ज्ञानी पुरुष एकमात्र पूर्णानन्द स्वरूप परमात्मा के बोध से सम्पन्न हो (सत-चित-आनन्द) 'अहं ब्रह्मास्मि' वह ब्रह्म मैं ही हूँ । 'सोऽहम्' केवल इस का भ्रमर कीट की तरह ब्रह्म स्वरूप प्रणव का ही चिन्तन करे । उसकी युक्ति इस प्रकार है ।

ज्ञान ही उसका शरीर है । वैराग्य को ही उसका प्राण समझे शम और दम - ये दो नेत्र हैं । विशुद्ध मन मुख है, बुद्धि कला है, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय,

पाँच प्राण, पाँच विषय, चार अन्तःकरण तथा अव्यक्त प्रकृति - ये पच्चीश तत्त्व ही उसके शरीर के अवयव है। समष्टिगत जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत ये पांच अवस्थाऐं ही उस विशिष्ट शरीर के पांच महाभूत हैं। कर्म, भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य ये चार उस शरीर की शाखा है। इस प्रकार सदा 'अहं ब्रह्मास्मि' का मनन करे। अपनी आत्मा के अलावा अन्य कुछ भी ज्ञातव्य वस्तु नहीं है। ऐसा जानकर जीव-मुक्त होकर रहे। अपितु निरन्तर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस धारण को ही पुष्ट करता रहे। जैसा घर में अभिमान करने से गृही हो जाता है। उसी प्रकार शरीर में अभिमान करने से तुरीय चेतन ही जीव होकर संसार में विचरता है।

जीव की चार अवस्थाओं में प्रथम अवस्था जाग्रत है। दूसरी स्वप्न, तीसरी सुषुप्ति तथा चौथी तुरीय है तथा इन चारों से रहित तुरीयातीत है। एक ही आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तटस्थ - भेद से चार प्रकार का प्रतीत होता है। अतः 'एक ही परमात्म देव सबके साक्षी एवं सत्वादि गुणों से रहित हैं। और वह ब्रह्म मैं स्वयं हूँ' यो विचार करे। शरीराभिमान के कारण ही उसमें जीवत्व है। परमात्मा से जीवात्मा का व्यवधान वैसा ही है, जैसे महाकाश से घटाकाश का है। व्यवधान के कारण ही यह हंस स्वरूप जीव उच्छवांस और निःश्वास के योग से सदा 'सोऽहम्' मन्त्र का स्वाभाविक रूप से मृत्यु पर्यन्त अनाहत रूप से जप करता हुआ अपने स्वरूप का अनुसंधान करता है। एवं जिसे इस अनित्य शरीर में आत्माभिमानी नहीं होता, वही ब्रह्म है, ऐसा कहाजाता है।

वाग्दण्ड, कर्मदण्ड और मनोदण्ड - ये तीन दण्ड जिसके नियन्त्रण में रहता हो वह महा संन्यासी ही यथार्थ त्रिदंड़ी है।

मुक्ति की इच्छा रखने वाला परम हंस उपनिषदों के श्रवण आदि के द्वारा साक्षात् मोक्ष के एक मात्र साधन ब्रह्म विज्ञान का ही अभ्यास करें।

मेरे अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह सब कल्पित एवं नश्वर है। ऐसा समझकर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का ध्यान बनाये रखे। 'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि', इस प्रकार का अनुभव उच्चारण करने में कभी संकोच, लज्जा, भय न करे। व्यवहार काल में भी ऐसा न कहे कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ'। अपितु 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे धारणा को निरन्तर पुष्ट करता रहे।

जैसे गृह में अभिनय करने व्यक्ति गृहस्थ बनता है, उसी प्रकार शरीर में अभिनय करके ब्रह्म ही जीव होकर संसार चक्र में भ्रमण करता है ।

अपने ही भीतर स्थित इन आत्मब्रह्म को सदा ही 'सोऽहम्' रूप से जानना चाहिये । इन से बढ़कर जानने योग्य तत्त्व दूसरा संसार में कुछ भी नहीं है ।

सप्तम उपदेश

कुटीचक और बहुदक के लिये प्रत्यक्ष देव पूजन का विधान है । हंस और परम हंस केवल मानसिक पूजन करे । तुरीयातीत और अवधूत केवल 'सोऽहमस्मि' वह ब्रह्म मैं ही हूँ केवल इस प्रकार भावना करें ।

कुटीचक और बहुदक का मन्त्र जप में अधिकार है । हंस और परमहंस केवल ध्यान के अधिकारी हैं । तुरीयातीत और अवधुत का स्वरूपानुसंधान के सिवा और किसी कार्य में अधिकार नहीं है । तुरीयातीत, अवधूत और परमहंस - इन तीनों को ही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के उपदेश का अधिकार प्राप्त है । कुटीचक, बहुदक और हंस - ये तीनों दूसरों के लिये उपदेश देने के अधिकारी नहीं है ।

'कुटीचक और बहुदक के लिये मानुष प्रणव अर्थात् बाह्य प्रणव के चिन्तन का विधान है । हंस और परमहंस को अन्तः प्रणव का तथा तुरीयातीत और अवधुत को ब्रह्मरूप प्रणव का चिन्तन करना चाहिये ।

कुटीचक और बहुदक का प्रमूख-साधन है श्रवण । हंस और परमहंस का प्रमुख साधन है मनन तथा तुरीयातीत और अवधूत का प्रमुख साधन है निदिध्यासन । आत्मानुसंधान की इन सभी के लिये विधि है ।

संन्यासी के लक्षण

शिक्षा, यज्ञोपवीत, माननीय गुरुजन, भाई, बन्धु, पिता, पुत्र, स्त्री, कर्म, अध्ययन अन्यान्य मंन्त्रों का जप, पूजा, माला, तीर्थयात्रा, यज्ञादिक त्यागकर आत्मवेत्ता पुरुष परिब्राजक संन्यासी होता है ।

जो संन्यास लेकर भी केश योज्ञपवीत धारण करते हैं, वह वास्तविक

संन्यासी नहीं है ।

यह सब जानकर मुमुक्षु घर का त्याग करके एक वस्त्र धारण करे और किसी वस्त्र का संग्रह न करे । यदि वह शारीरिक क्लेश सह सकता हो तो दिगम्बर रहे । अन्यथा कौपिन धारण करे । स्वाध्याय और वेदिक कर्म काण्ड के अनुष्ठान का त्याग करके समस्त ब्रह्माण्ड के साथ ममता रहित हो जावे, कौपिन, दण्ड, और अ‘ ढकने का वस्त्र भी न रखे ।

अपने शरीर को मुर्दे के समान मानकर, आत्मा के अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तु को बाह्य-भीतर न स्वीकार करते हुए, न तो किसीके सामने मस्तक झुकाऐ, न यज्ञ और श्राद्ध करे, न किसी की निन्दा या स्तुति करे । अकेला ही स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करता रहे । देव इच्छा से प्राणरक्षार्थ जो भोजन मिलजावे उसीपर सन्तुष्ट रहे और मुंह से अधिक के लिये मांग न करे । न ध्यान करे न उपासना करें । न किसी स्थान पर आश्रम बनाना चाहे न शिष्य सम्बन्ध बढ़ावे । न कोई चिन्ह धारण करे और न अपने विषय में किसी को यह ज्ञात होने दे कि मैं त्यागी संन्यासी हूँ । लोग यह जानने न पावे कि यह साधु या असाधु, मुर्ख है या बहुत बड़ा विद्वान् अथवा सदाचारी है या दूराचारी । वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण है ।

समस्त प्राणीयों के लिये सन्देह का विषयबना हुआ वह वर्ण और आश्रम से रहित हो अन्ध, जड़, और मुक की भाँति पृथ्वी पर विचरण करे । जब आत्मसत्ता के अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु के अस्तित्व का चिह्न भी न रह जाय, तभी कैवल्य को प्राप्त होता है । यही ब्रह्म तत्त्वका उपदेश है ।

संन्यासी पाँच गृहों से अन्न लाकर केवल एक रात भोजन करना चाहिये । दूसरे दिन पांच गृहों से अन्न लाकर भोजन करे । उनका हाथ ही पात्र है अतएव ‘करपात्री’ कहलाते हैं । दिन में बार बार भिक्षा न मांगे । शीत निवृत हेतु जरूरत लगे तो एक चादर या कंथा धारण करे ।

भिक्षार्थ जब जावे तो उस गृहस्थ घर के सभी लोग भोजन कर चुके हों, चुल्हे की आग बुझ चुकी हो, तब भिक्षा लेने जावे और जो कुछ बचा मिल जावे उसी में सन्तोष करे । एकबार में जो मिलजावे उसे खड़े-खड़े या चलते-चलते ग्रहण करलें । आश्रम, बाग-बगीचे, कुँवे बावड़ी, शिष्यादि के जाल में न फंसे

जहाँ सूर्यास्त हो जाये वही ठहर जावे न अग्नि रखे न दंड़ रखे । न कोई चिह्न ग्रहण करे और न आचार को ही किसी पर प्रकट होने दे । बालक, उन्मत अथवा पिचाश की भांति व्यवहार करे ।

अष्टम उपदेश

ये ब्रह्म प्रणव रूप परमात्मा सबके आधारभूत तथा परमज्योति: स्वरूप है । ये ही सबके ईश्वर और सर्वव्यापक है । सम्पूर्ण देवता इन्हीं के स्वरूप हैं । समस्त प्रपञ्च का आधार प्रकृति भी इन्ही के गर्भ में है । ये सर्वाक्षरमय - वर्णमाला के पचास वर्ण और उनके द्वारा बोध्य अर्थ, सब इनके स्वरूप ही हैं । ये काल स्वरूप, समस्त शास्त्र भय तथा कल्याण रूप हैं । समस्त श्रुतियों में श्रेष्ठ तत्त्व पुरुषोत्तम है इनका ही अनुसंधान करना चाहिये । समस्त उपनिषदों के मुख्य अर्थ ये ही हैं । इन्ही में उपनिषद् गतार्थ होती है । भूत, भविष्य और वर्तमान - इन तीनों कालों में होने वाला जो जगत् है तथा इन तीनों लोकों से परे जो कोई अविनाशी तत्त्व है, वह सब ॐ कार स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है - यह जानें । ॐकार को ही मोक्ष दायक समझो, प्रणव के वाच्यार्थ वह परमात्मा ही है यह आत्मा है । 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इस श्रुति द्वारा ब्रह्म शब्द से उन्हीं का वर्णन है ।

अपने ही भीतर स्थित इन ब्रह्म को सदा ही जानना चाहिये । इन से बढ़कर जानने योग्य तत्त्व कुछ भी नहीं है । भोक्ता (जीवात्मा) भोग्य (जड़वर्ग पदार्थ) और उनके प्रेरक परमेश्वर - इन तीनों को जानकर मनुष्य सबकुछ जान लेता है । इस प्रकार इन तीनों भेदों में बताया गया यह सब कुछ ब्रह्म ही है । आत्म विद्या और तपस्या ही जिसकी प्राप्ति के मूल साधन है । सब स्वरूपों में वह एक ही ब्रह्म विराजमान है । (२-१३)

स्वरूप को जानने वाला संन्यासी 'सोऽहम्' (वह ब्रह्म मैं हूँ) इस महावाक्य के उपदेश में उसकी सहज स्थिति हो जाती है । (२३)

नवम उपदेश

ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन

नारद ने पूछा - भगवन ! ब्रह्म का स्वरूप कैसा है ? तब ब्रह्माजी ने कहा

- वत्स ! ब्रह्म और क्या है, अपना स्वरूप ही तो है । यह आत्मा स्वयं ब्रह्म ही है । यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है । ब्रह्म दूसरा है और मैं दूसरा हूँ इस प्रकार जो अज्ञानि लोग मानते हैं, वे पशु हैं । जो कर्मानुसार स्वभाव से पशु योनि में उत्पन्न हुए हैं, केवल उन्हीं का नाम पशु नहीं है ।

असप्रभु छाड़ि भजहि जे आना ।
ते नर पशु यह वेद बखाना ।।

- रामायण

जिनके मति ध्येय ज्ञेय कुछ ओरा ।
ते नर पशु यह वेद ढिंढोरा ।।

- विचार सागर

मृत्योः स मृत्युंगच्छति यह इहनानेव पश्यति ।।

- कठोप २/१/११

तात्पर्य यह है कि जो आत्मा व सर्वव्यापि परमात्मा में भेद मानता है वह बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होता रहेगा । वह अपनी अखण्डता को नहीं जानता है । इसलिये वह देवताओं का दास, पशु बना रहता है । अस्तु ! उन परब्रह्म परमात्मा को इस प्रकार सर्वात्मा और सर्व रूप में जानकर विद्वान् पुरुष मृत्यु के मुख से सदा के लिये छूट जाते हैं । परमात्मा ज्ञान के सिवा अर्थात् सोऽहम् ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

FFF

दो विद्याएं

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञान विज्ञान तत्त्वतः
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ।।

- ब्रह्मबिन्दुपनिषद - १७-१८

दो विद्याएँ जानने की हैं । - 'शब्द ब्रह्म' और 'परब्रह्म' शास्त्रज्ञान और भगवान् का यथार्थ स्वरूपज्ञान । शास्त्र ज्ञान में निपुण हो जाने पर मनुष्य भगवान को भी जाने लेता है । बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह ग्रन्थ का अभ्यास करके उसके ज्ञान-विज्ञान रूप तत्त्व को प्राप्त करके, फिर उस ग्रन्थ को वैसे ही त्याग दे, जैसे धान चाहने वाला मनुष्य धान को लेकर पुआल को खलिहान में ही छोड़ देता है । या पैर में चुभे हुए कांटे को निकालने के लिये दूसरा काँटा खोज, चुभे हुए को निकाल ने के पश्चात् दोनों को वहीं त्याग दिया जाता है । ज्ञान के लिये शास्त्र मदद रूप है । स्वरूप चिन्तन की अपेक्षा शास्त्र बहिर्मुख है किन्तु संसार की अपेक्षा शास्त्र अध्ययन अन्तर्मुखी ही है । अतः जब तक ब्रह्मानुभूति नहीं हुई उसके मार्ग की खबर नहीं हुई तब तक शास्त्र अवलोकन करना चाहिये । साथ-साथ अभ्यास भी करते ही रहें । तत्त्व ग्रहण के बाद शास्त्र का उसी प्रकार प्रयोजन नहीं रहता । जैसे किनारे पर आ पहुँचने पर नाव का, किन्तु शास्त्र का अभ्यास होने से कोई मतान्तर वाले आपको सत्य पथ से भ्रष्ट नहीं कर सकेंगे । जैसे कि अज्ञानि लोगों को वे चालाक तार्किक लोग अपने-अपने चंगुल में शीघ्र फंासकर अपने स्वार्थ सिद्धि किया करते हैं ।

मूर्ख की दुर्दशा

भूतों के राजा के समीप समस्स भूत प्रजा अपने दैनिक कार्य का विवरण प्रतिदिन प्रातः राज सभा में आकर बतादिया करते थे । एक दिन एक भूत ने स्कुल जाने वाले एक गरीब बच्चे की पुस्तक छीन कुवें में फेंक दी । जब यह घटना भूत ने राजा को सुनाई तो राजा बहुत प्रसन्न हुए और कहे शाबाश् ! शाबाश !! तुमने बहुत अच्छा काम किया । अब वह बालक दूसरी किताब खरीद नहीं सकेगा इसलिये वह मूर्ख रह जावेगा । और इसी प्रकार के मूर्ख लोगों पर हमारा चमत्कारी प्रभाव पड़ता है, शिक्षित लोगों को हम ठग नहीं पाते ।

भूत इस विशेष पुरस्कार को प्राप्त होने से वह बहुत प्रसन्न हुआ और अपने मित्रों को जा बताया कि मैंने एक गरीव बच्चे की पुस्तक छीन कूँवे में फेंक दी तो राजा ने मुझे इस कार्य हेतु दो बार धन्यबाद दिया । यह बात सुन अन्य सभी भूत समुदाय मन में दुःखी हुए की हमने कई बड़े-बड़े कार्य किये, किन्तु राजा ने उन्हें

सुनकर कभी कोई उत्तर नहीं दिया न धन्यबाद दिया और इसे एक बालक की पुस्तक छीन कुँवे फेंक देने से दो बार धन्यबाद दिया । चलो हम सब मिलकर राजा के पास इसका न्याय मांगे ।

सभी भूत समुदाय राजा के पास जब पहुँचे और अपनी फर्याद कह सुनाई । राजा ने किसी प्रकार का उत्तर न देकर उन समस्त भूत समुदाय को लेकर एक नगर में पहूँचे और राजा ने एक भूत को एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण के पास भेजा और उससे यह कहने को कहा कि - हे ब्राह्मण तुम्हारी भक्ति से विष्णु भगवान् प्रसन्न होकर, हमें तुम्हें विष्णु लोक से लेने भेजा है । पुष्प विमान नगर के बाहर खड़ा है । यहाँ से तुम्हे वहाँतक आँख पर पट्टी बान्धकर ले चलेंगे । विमान तक पहुँचने के लिये तुम्हे हंस पर बैठाकर ले जावेंगे । किन्तु इन प्राकृत नेत्रों से उस दिव्य विमान एवं विष्णुलोक को नहीं देखा जा सकेगा । वह कर्मकाण्डी ब्राह्मण सहर्ष चलने को तैयार हो गया । भूत ने उसकी आंख पर पट्टी बाँधदी फिर गले में जूतों की माला व मुखपर काला पोत गधे पर बैठाकर नगर चौराहे तक लाकर खड़ा कर कहा कि तुम यहाँ पर रहो, हम विमान लेकर अभी आते हैं । वह मूर्ख ब्राह्मण वही गधे पर बैठा रहा । बहुत समय तक प्रतिक्षा करता रहा कि अभी विमान आयेगा एवं मैं उसमें चढ़ बैकुण्ठ लोक जाऊँगा । नगर के लोगों ने पण्डितजी की दुर्दशा देखी व उसकी आंखों पर से पट्टी खोल पूछा कि यह तुम्हारी दुर्दशा कैसे हुई और किसने की ? तब पण्डित जी ने अपने दूर्दशा की कहानी सुनाई ।

इधर भूतों के राजा ने मूर्ख ब्राह्मण की यह दुर्दशा अपने भूत समुदाय को दिखलाकर वहाँ से अदृश्य हो भूत समुदाय को एक ज्ञानी पुरुष के पास जाकर विष्णुलोक चलने की बात कही । किन्तु उस ज्ञानी द्वारा ब्रह्म की सत्ता को सर्वत्र समान रूप से जान लेने के कारण उस देव गण रूप में आये भूत को परमात्मा की सर्वव्यापकता को बताने वाले मंत्र की उच्चारण कर कहा कि -

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

सर्वत्र ही विष्णु विद्यमान है । विष्णुलोक जाने हेतु मुझे फुरसत नहीं है । इतना सुन वह भूत उस ज्ञानी के पास से निराश लौट गया । उस ज्ञानी पर उन यिष्णु भक्तो के रूप में छिपे भूत की बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा ।

इस द्रष्टान्त से यह सिद्ध हुआ कि मूर्ख लोगों में अन्धे विश्वास होने के कारण ही वे भूत, पिशाच, चुड़ेल, डायिन की बातों में प्रभावित होते हैं एवं नाना प्रकार के ताविज, सूत्र, तन्त्र, मंन्त्र, विभूति, सिन्दुर, धातुओं की अंगॅुठियों को धारण करते हैं किन्तु ज्ञानियों पर इन धूर्तों की बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । अतः प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य सत्यज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयास करना चाहिये ।

श्री हंस भगवान ने सनकादिको को इसी सर्वेश्वर तत्त्व का उपदेश किया था । फिर सनकादिको ने श्री नारद जी को इसी तत्त्व की उपासना का उपदेश किया । इसी विद्या को सर्वेश्वर विद्या भूमाविद्या आदि अनेक नामों से कहा जाता है । आचार्यों ने इसे परम गोप्य विद्या मानकर केवल उत्तमोत्तम अधिकारियों को ही इसका उपदेश किया है ।

ब्रह्म के चार पाद

उपनिषद् के प्रारम्भ में ही ॐकार पदवाच्य परमब्रह्म ही की प्रस्तावना की गयी है । फिर उस परब्रह्म को सुगम रूप से जानने के लिये ही उसी परमात्म तत्त्व के चार पादों की गणना की गयी है । यद्यपि वह परमात्मतत्त्व एक ही है । किसी प्रकार से विभक्त नहीं होता तथापि स्थानादि भेद से विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीयादि उसकी अनकों संज्ञाएं हो जाती है । उपर्युक्त सभी संज्ञाएं सापेक्ष हैं । इन में अन्तर्यामिता एवं सर्वेश्वरता सर्वत्र निरपेक्ष रूपेण विद्यमान रहती है ।

जाग्रत-अवस्था में आत्मा, इन्द्रिय, शरीर - ये सब सञ्चरित रहते हैं । अतः इस अवस्था में वह अन्तर्यामी 'विश्व' कहलाता है । जब इन्द्रियों की शक्ति मन में ही लीन हो जाती है, तब उस स्वप्नावस्था में वह 'तैजस' कहलाता है । क्योंकि वहाँ मन का ही अन्तर्नियमन करता है । जब वह मन भी आत्मा में लीन हो जाता है, तब उस सुषुप्ति-अवस्था में केवल जीवात्मा का ही अन्तर्नियमन करने से वह अन्तर्यामि प्रभु 'प्राज्ञ' कहलाता है । जब वह प्रभू जाग्रतादि समस्त भेदों को अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अपने में लय करके योगनिद्रास्थ होता है - तब वही 'तुरीय' कहलाता है । यद्यपि जाग्रतादि अवस्थाँ बदलती रहती है; किन्तु परब्रह्म का सच्चिदानंदात्मक वास्तविक स्वरूप चारों पादों (अवस्था ओं) में पुष्प माला में

सुत्र की तरह निर्बाध अनुस्युत रहता है ।

ध्यान दीजिये :

ब्रह्मविद्वान ब्रह्मैवाभिप्रैति ।

- कौषीतकी उप. १/४

जिन्हों ने ब्रह्म को जाना है, उन्होंने ब्रह्म को पाया है । परमात्मा केवल चिन्तन मात्र से ही मिल जाते हैं किन्तु संसार के पदार्थों को जानने के बाद प्राप्त करने हेतु चेष्टा करना पड़ता है । व फिर भी सफलता मिले या नहीं, यह भी निश्चय नहीं, किन्तु ब्रह्म को जानना और पाना एक ही बात है । जानने के बाद फिर पाने की चेष्टा करने का प्रयोजन नहीं रहता । क्योंकि ब्रह्म को पाने की इच्छा वालाजीव स्वयं ही ब्रह्म है ।

ब्रह्म को कहाँ ढुढ़ना चाहिये ?

अथयदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहंर पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तरा काशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टन्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।।

- छान्दोग्य . ८/१/१

अब इस ब्रह्मपुर (शरीर) के भीतर जो सूक्ष्म कमल सदृश्य स्थान है, इस में जो सूक्ष्म आकाश है और उसके भीतर जो ब्रह्म है, उसको ढुंढ़ना चाहिये और उसकी विशेष जानकारी प्राप्त करनी चाहिये ।

''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' तज्जलानिति शान्त उषासीत । अथ खलु क्रणुमयः पुरुषों यथा क्रतुरस्मिँ लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीजत । - छान्दोग्य ३/१४/१

यह सब ब्रह्म ही है । ब्रह्म से ही जगत् उत्पन्न होता है । ब्रह्म में ही विलीन होता है । और ब्रह्म में ही चेष्टा करता है । संलग्न होकर ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये । पुरुष कर्ममय है । इस लोक में जैसा कर्म करता है, मरने के बाद परलोक में वह वैसा ही होता है । इसलिये आत्मज्ञान प्राप्ति रूप सत्कर्मानुष्ठान करना चाहिये ।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ।

- कठोपनिषद : १/१/२६

धन से मनुष्य कभी तृप्त नहीं होने वाला है । विषयों की पूर्ती द्वारा तृष्णा कभी शान्त नहीं होती, वह तो जलती अग्नि में ईन्धन ड़ालने की ही युक्ति है ।

घटावभासको भानुर्घटनाशो न नश्यति ।
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति ।।

- आत्म प्रबोध

जैसे घड़े का प्रकाशक सूर्य, घड़े के नाश हो जाने पर नष्ट नहीं होता, वैसा ही देह का प्रकाशक साक्षी आत्मा, देह के नाश से, नाश को प्राप्त नहीं होता ।

ब्रह्म ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति

स वा एष महान्ज, आत्माऽजरोऽमरोऽमृतयोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ।।

- बृहदारण्यक : ४/४/२५

यह महान्, आत्मा जन्म से रहित बुढ़ापे से रहित और भय से रहित है । ब्रह्म अमय है, निश्चय ब्रह्म अभय है । जो इस प्रकार जानता है, वह निश्चय ही ब्रह्म हो जाता है ।

जन्म कर्म च ने दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यकत्वा देहं पुर्नजन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।

- गीता ४/१

इस प्रकार जो मेरे जन्म तथा कर्म का रहस्य तत्त्व से जान लेता है तथा मुझसे पृथक् अपने को नहीं समझता अर्थात् सोऽहम् वृत्ति उत्पन्न हो जाने पर प्रारब्ध शरीर के नष्ट हो जाने पर पुनः शरीर धारण नहीं करना पड़ता ऐसा मेरा निश्चय है ।

अस्ति भांति, प्रिय, नाम तथा रूप यह पांच अंश संसार के प्रत्येक पदार्थ में सदा विद्यमान रहता है उनमें प्रथम तीन अस्ति, भाति, प्रिय अंश तो सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहने के कारण ब्रह्मांश कहलाता है और शेष दो नाम, रूप मायांश

प्रत्येक पदार्थ मं पृथक् है । उन दोनों का परित्याग करने से अपने स्वरूप के अपरित्याग से अधिष्ठान रूप जो अस्ति, भाति, प्रिय एक सत्ता है वही महान् परम तत्त्व मैं हूँ । (अहं ब्रह्मास्मि)

उसी को 'प्रज्ञान ही ब्रह्म है' अथवा 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि वाक्यों से उसी का कथन किया जाता है । 'यह आत्मा ब्रह्म है' (अयमात्मा ब्रह्म) ब्रह्म ही मैं हूँ । जो मैं हूँ 'वह मैं हूँ' । जो वह है 'सो मैं हूँ' (सोऽहम्) इन श्रुतियों द्वारा जिनका निरूपण होता है वह षोड़शी विद्या है ।

शब्दब्रह्माणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि ।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यर्धेनुमिव रक्षतः ॥

- भागवत : ११/११/१८

सा' वेदादि शास्त्रों का नाम शब्द ब्रह्म है । उसे शब्द ब्रह्म में व्युत्पन्न मति होकर भी जिसको परब्रह्म की अनुभूति नहीं हुई उसका वह शास्त्र पाठ दुग्ध विहीन गाय के पालने के समान निष्फल है ।

उसकी अवस्था कड़ाई करछी की भांति है । जो सब पाकों में आलोड़न करती है, किन्तु उसके स्बाद को ग्रहण नहीं कर पाती, वैसे ही शास्त्र पाठी हैं । जो सब पढ़ने का श्रम करते हुए भी उसके तत्त्व को ग्रहण नहीं कर पाते ।

- मुक्ति उप. २/६३

ब्रह्म रूप तया पश्यन् ब्रह्मैव भवति स्वयम्

- बराह उप : २/१४

स्थावर जंगात्मक यह विश्व ब्रह्म का ही रूप है । ब्रह्मातिरिक्त पृथक् वस्तु नहीं है । इस प्रकार का ज्ञान उदय होने पर साधक स्वयं ब्रह्म हो जाता है ।

ज्ञान मात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ॥

– श्रीमद्भगवत् :३/३२/६

ज्ञान ही ब्रह्म है, परमात्मा, ईश्वर, पुरुष इत्यादि उसी का नामान्तर है ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म

सत्य, ज्ञान तथा भूमा ही ब्रह्म है ।

रसो वै सः

ब्रह्म रस स्वरूप है । अर्थात् परमानन्द स्वरूप है । रस ही आनन्द है और 'आनन्द ब्रह्म' है । अतः आनन्द उपासक ब्रह्म के ही उपासक है ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः

- गीता ४/११

सभी मनुष्य सभी प्रकार से परम शान्ति, परमानन्द अखण्डानन्द स्वरूप मुझ आत्मा को ही प्राप्त करने के लिये ही चेष्टा कर रहे हैं ।

'प्रज्ञानं ब्रह्म' = यह ज्ञान ही ब्रह्म है

- एतेरेय उप. ३/३

'तत्त्वमसि' = वह तू है

- छान्दोग्य उप. ६/८/७

'अयमात्मा ब्रह्म' = यह आत्मा ही ब्रह्म है ।

- माण्डुक्य उप. २

'अहं ब्रह्मास्मि' = मैं ब्रह्म हूँ

- बृहदारण्यक उप. १/४/१०

FFF

मुक्तिकोपनिषद

(शुक्लयजुर्वेदीय)

प्रथम अध्याय

सर्वान्तर्यामी एवं निर्विकार श्री राम जी एक समय अपने स्वरूप ध्यान में रत होकर समाधिस्थ हो रहे थे । उनकी समाधि टूटने पर श्री हनुमान जी ने पूछा –

-रामजी ! आप परमात्मा है ! रघुवर ! मैं आपके यथार्थ स्वरूप (सत्-चित-आनन्द) को जानना चाहता हूँ, जो मुक्ति प्रदान करने वाला है । जिसके जानने से में सहज - अनायास ही इस संसार बन्धन से छूट जाउँ । कृपाकरके मुझसे उसका वर्णन कीजिये ।

-॥१-६॥

श्री रामचन्द्र जी ने कहा - महा बलशाली हनुमान ! तुमने उचित प्रश्न किया । मैं अब तुम्हें तत्त्व की बात कहता हूँ, सुनो । मेरा वास्तविक स्वरूप वेदान्त (उपनिषद्) में अच्छी प्रकार से वर्णित है । अतएव तुम वेदान्त शास्त्र का आश्रय लो । वेदान्त किसे कहते हैं यह भी जान लो । मुझ विष्णु के निःश्वास से सुविस्तृत चारों वेद उत्पन्न हुए । तिलों में जैसे तेल उसी की भांति वेदों मे वेदान्त (उपनिषद्) विज्ञान सुप्रतिष्ठित है ।

- ॥७-१०॥

मुख्य वेद चार कहे गये है । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व वेद । इन चारों की अनको शाखाएँ, और उन शाखाओं के उपनिषद् भी अनेकों हैं । ऋगवेद की एक्कीस शाखाएँ है । यजुर्वेद की एक सौ नो शाखाएँ हैं । और साम वेद से सहस्त्र शाखाएँ निकली हैं । कपीश्वर ! अथर्व वेद की शाखाओं के पचास भेद है । एक एक शाखा की एक एक उपनिषद् मानी गयी है ।

हनुमान जी ने कहा — -श्रीरामजी ! मुक्ति कितने प्रकार की होती है, क्योंकि लोक में नाना मत मतान्तर इस सम्बन्ध में अलग-अलग निश्चय कहते हैं । तब श्रीराम ने कहा - कपिवर ! कैवल्य मुक्ति तो एक ही प्रकार की है । वही परमार्थ रूप है । इस के अतिरिक्त शेष चार सालोक्य, सायुज्य, सारुप्य और सामीप्य है ।

भक्ति पूर्वक नाम-स्मरण करने वाला दुराचारी व्यक्ति भी सालोक्य मुक्ति को प्राप्त होता है । वहाँ से वह अन्य लोको में नहीं जाता किन्तु वह मुक्ति परमार्थ रूप नहीं । जिसका काशी क्षेत्र में मन की स्थिति रहते हुए (इस देह में भ्रूमध्य ब्रह्मनाल प्रदेश के अन्तर्गतह क्षेत्र को काशी क्षेत्र कहते हैं) उसके समस्त पापों का क्षरण होकर शंकरजी द्वारा उसके दाहिने कान में तारक मन्त्र प्रदान करने से वह सारूप्य को अर्थात् अपने इष्ट के समान रूप को प्राप्त होता है । जो द्विज सदाचार में

रत रहकर नित्य एक मात्र मेरा ध्यान करता है और मुझे सर्वात्मस्वरूप चिन्तन करता है । वह मेरे समीप्य को प्राप्त होता है । अर्थात् सदा मेरे समीप निवास करता है । यही वे शेष चार मुक्ति है जिन्हें सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सायुज्य कहते हैं । किन्तु बिना आत्मज्ञान के प्राप्त किये इन्हें पुनः जन्म-मृत्यु को प्राप्त होना पड़ता है । केवल आत्मज्ञानी ही विदेह मुक्ति, कैवल्य मुक्ति को प्राप्त होता है । उन्हें पूनर्जन्म की प्राप्ति कभी नहीं होती है ।

आ ब्रह्मभूवनालोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।

- गीता ८/१६

गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से मेरे अव्यय, निर्विकार स्वरूप का ध्यान करता है तब वह भ्रमर कीट के समान सम्यक् रूप से मेरे सायुज्य को प्राप्त करता है । वही कल्याण मयी ब्रह्मानन्द को प्राप्त कराने वाली सायुज्य मुक्ति है । मेरी उपासना से यह सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य एवं सामीप्य चार प्रकार की मुक्ति होती है । किन्तु यह कैवल्य मुक्ति किस उपाय के अवलम्बन करने से मिलती है उसे सुनो ।

अकेली माण्डुक्योपनिषद मुमुक्षु जनों को मुक्ति प्रदान करने में समर्थ है । यदि उससे भी ज्ञान में परिपक्वता न आवे तो दस उपनिषद्ों का पाठ करो । जिससे शीघ्र ही मुझ तेज स्वरूप अद्वैत धाम को प्राप्त करोगे । अञ्जनी कुमार ! यदि उससे भी ज्ञान की दृढ़ता न हो तो बत्तीस उपनिषद्ों का सम्यक् रूप से अभ्यास करके संसार से निवृत्त हो जाओ । यदि विदेहमुक्ति अर्थात् शरीर छोड़ने के बाद मुक्त होना चाहते हो तो एक सौ आठ उपनिषद्ों का पाठ करो । ये एक सौ आठ उपनिषदें मनुष्य के त्रिताप को नाश करती है । उनके स्वाध्यय से ज्ञान वैराग्य की प्राप्ति होती है । देहभाव की निवृत्ति होकर आत्मभाव की स्मृति जाग्रत होती है । तथा प्रारब्ध पूर्ण होने के समय तक जीवन्मुक्ति तथा पूर्ण होने के बाद विदेहमुक्त होता है । पवन कुमार ! तुम मेरे शिष्य हो, अतएव मैंने तुम्हारे लिये इस अत्यन्त गोपनीय तत्त्व का उपदेश किया । इन १०८ उपनिषद्ों का जो ज्ञान है उसे यदि कोई जिज्ञासु जानकर या अनजान से एवं श्रवण, मनन भी करले तो वह संसार बन्धन से मुक्ति को प्राप्त होता है । जो तुम से राज्य अथवा धन मागें, उसे उसकी कामना पूर्ति के लिये धन

एवं राज्य दे सकते हो, परन्तु इन १०८ उपनिषद्ों के परमगोपनीय ज्ञान को हर किसी को देना ठीक नहीं है । जो नास्तिक है, मेरी भक्ति से मुख मोड़े हुए हैं, दुराचारी (जीव हिंसक, शराबी, जुआरी इत्यादि) है तथा जो शास्त्र रूप गड्ढों में गिरकर मोहित हो रहे हैं, उन्हें तो कभी नहीं देना चाहिये । मारुति ! सेवा परायण शिष्य को अनुकूल (आज्ञाकारी) पुत्र को अथवा जो कोई भी मेरा भक्त हो, अच्छे कुल में उत्पन्न हो, सुशील, और सद्‌बुद्धि सम्पन्न हो उसे भली भाँति परीक्षा करके इन उपनिषद्ों के ज्ञान को प्रदान करना चाहिये । अतः जिसे गुरु श्रुतशील (शास्त्राभ्यासी) प्रमाद रहित, मेधावी, और ब्रह्मचर्य से युक्त समझे, उसीकी अच्छी तरह परीक्षा करके आत्म विषयक वैष्णवी विद्या प्रदान करें ।

(४८-४९)

जो लोग मुक्ति के अभिलाषी है, जो नित्यानित्य वस्तु विवेक, इस लोक एवं परलोक को भोगों से वैराग्य, शम-दम आदि षट् सम्पत्ति तथा मोक्षाभिलाषी इन चार साधन चतुष्ट्य से उत्पन्न है वे श्रद्धावान पुरुष सत्कुल में उत्पन्न, श्रोत्रिय (वेदज्ञान सम्पन्न) शास्त्रनुरागी, गुणवान, सरलहृदय समस्त प्राणीयों की भलाई में रत तथा दया के समुद्र सद्‌गुरु के निकट विधिपूर्वक भेंट लेकर जाते हैं ।

तद् विज्ञानार्थं सद्‌गुरुमेवाभि गच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्

- मुण्डक. उप. १/२/१२

और उनसे इन उपनिषद्ों को श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का अभ्यास करते हैं फिर प्रारब्ध क्षय होने पर तीनों शरीर नष्ट हो जाने से उपाधि रहित घटाकाश के समान परिपूर्णता को प्राप्त होते हैं अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाते हैं । यही विदेह मुक्ति कहलाती है । इसी को कैवल्य मुक्ति भी कहते हैं । अतएव ब्रह्मलोक में रहने वाले ब्रह्माजी के मुख से भी ब्रह्मलोक को प्राप्त जीवों को यही वेदान्त का श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन करके उन्ही के साथ कैवल्य को प्राप्त हो जाते हैं ।

अतः सब के लिये केवल ज्ञान द्वारा ही कैवल्य मुक्ति की प्राप्ति कही गयी है । कर्मयोग, सांख्ययोग तथा उपासनादि के द्वारा नहीं । यह उपनिषद् है । ॥५६॥

प्रथम अध्याय समाप्त

द्वितीय अध्याय

हनुमान जी ने पूछा - भगवन् ! जीवन्मुक्ति क्या है ? विदेह मुक्ति क्या है ? और उनके होने में प्रमाण क्या है ? तथा उनकी सिद्धि कैसे होती है ?

श्रीरामजी ने कहा - हनुमान ! जीव को मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं सुखी और मैं दुःखी हूँ, इत्यादि जो मिथ्या ज्ञान होता है वह चित का धर्म है । यही ज्ञान क्लेश रूप होने के कारण उसके लिये बन्धन का कारण हो जाता है । इस प्रकार के ज्ञान का निरोध अर्थात् मैं अभोक्त हूँ, मैं अकर्ता हूँ, मैं सुख-दुःख का साक्षी मात्र हूँ, इत्यादि जो ज्ञान का उदय होना ही जीवनमुक्ति है । घट रूप उपाधि के नष्ट हो जाने पर आकाश घटाकाश संज्ञा से मुक्त हो जाता है । इसी तरह प्रारब्ध रूप देह उपाधि के नष्ट हो जाने पर यह जीवन्मुक्ति से विदेह मुक्त हो जाता है ।

प्रारब्ध पूर्ण होने के बाद लिंग शरीर रहित जो उपाधि रहित अवस्था होती है । उसे ही विदेह मुक्ति कहते हैं । कर्तापन और भोक्तापन आदि दुःखों की निवृत्ति द्वारा परमानन्द की प्राप्ति ही इसका प्रयोजन है ।

वह आनन्द प्राप्ति पुरुष के प्रयत्न से-पुरुषार्थ से सिद्ध होती है । वह पुरुष प्रयत्न द्वारा वेदान्त के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से उत्पन्न हुई समाधि से जीवन्मुक्ति आदि की सिद्धि होती है और वह समस्त वासनाओं के नाश होने पर प्राप्त होती है ।

पुरुष का पुरुषार्थ शास्त्रानुकूल तथा शास्त्र विरुद्ध यह दो प्रकार का ही होता है । अनुकूल से परमार्थ बनता है एवं विपरित से अधोगति को प्राप्त होता है । लोकवासना, शास्त्रवासना तथा देह वासना यह तीनों आत्मज्ञान के विरोधी है । शुभ वासना द्वारा ज्ञान का अनुशीलन कर मोक्षपद प्राप्त होता है । एवं अशुभ वासना महान् दुःखों में डाल देती है । कपिवर ! पूर्व के संस्कारों को तुम्हें यत्यपूर्वक जीतना चाहिये, अशुभ मार्ग में बहने वाली मन रूपी नदी के प्रवाह को तोड़ मोड़ कर शुभ मार्ग में लेना चाहिये । यही मानव का सच्चा पुरुषार्थ है; क्योंकि मन के दो ही प्रवाह क्षेत्र है जब अशुभ से हटता है तो शुभ में ही प्रवाह करता है एवं शुभ से निकलने पर अशुभ में ही गमन करता है । अतः पुरुषार्थ द्वारा यत्न पूर्वक मन अथवा चित्त रूपी बालक को फुसलाकर, थपथपा कर शुभ में ही लगावें । अभ्यास के द्वारा जब शुभ

एवं अशुभ दोनों वासनाएं जल्दी ही क्षीण होने लगें, तब यह जानलेना कि अभ्यास परिपक्वता को प्राप्त होगया है, जबतक अशुभ वासना का सन्देह भी हो वहाँ तक शुभ वासना ओं की वृद्धि में लगे रहना चाहिये । बार-बार चित्त को उसी में जोड़ रखना चाहिये जिससे अशुभ वासना के लिये स्थान खाली न पाने से दूर से ही निराश हो लोट जावेगी ।

- २ - ३-१०

महामति हनुमान ! वासना क्षय, विज्ञान और मनोनाश इन तीनों का एक साथ चिरकाल तक अभ्यास करने पर ये फल प्रदान करते हैं । जब तक तीनों को एक साथ बारम्बार प्रयत्न पूर्वक अभ्यास न किया जाय, तब तक सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी कैवल्य पद की प्राप्ति नहीं होती है । चिरकाल तक तीनों का एक साथ अभ्यास करने से हृदय की दृढ़ अज्ञान ग्रन्थियों का छेदन हो जाता है । जिस झूठी संसार–वासना का सैकड़ों जन्मों से अभ्यास हो रहा है वह चिरकाल तक साधना किये बिना कदापि क्षीण नहीं होती । इसलिये, प्यारे हनुमान ! पुरुषार्थ के द्वारा प्रयत्न करते हुए विवेक पूर्वक भोगों की इच्छा को दूर से ही नमस्कार करके इन तीनों का सम्यक् रूप से अवलम्बन करो ।

-२- ११-१६

वासना से युक्त मन को ज्ञानियों ने बद्ध बतलाया है, और जो मन वासना से सम्यक्तया मुक्त हो गया वह मुक्त कहलाता है । महाकपि ! मन को वासना हीन स्थिति में शीघ्र ले आओ । भली भाँति विचार करने से और सत्य के अभ्यास से वासनाओं का नाश हो जाता है । वासनाओं के नाश से चित्त उसी प्रकार विलीन हो जाता है । जैसे तेल के समाप्त हो जाने पर दीपक का प्रकाश विलीन हो जाता है । वासनाओं का त्याग करके सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा में निश्चय रूप से मन को स्थिर करने से उसी एक भाव से कैवल्य को प्राप्त हो जाता है । समाधि अथवा कर्मानुष्ठान वह करे या न करे । जिसके हृदय में वासना का सर्वथा अभाव हो गया है, वह मुक्त है, वही उत्तमाशय है ।

-२ - १६-२०

जिसके मन से वासनाऐं दूर हो गयी है, उसे न नैष्कर्म्य से अर्थात् कर्मो के त्याग से मतलब है और न कर्मानुष्ठान से । उसे समाधान अर्थात् षट् सम्पत्ति और

जप की भी आवश्यकता नहीं है । समस्त वासनाओं का त्याग करके मन का मौन धारण करने के अतिरिक्त कोई दूसरा परम पद नहीं है । किसी प्रकार की प्रत्यक्षवासना प्रतीत न होने पर भी कर्मेन्द्रियाँ जो स्वतः अपने अपने बाह्य विषयों में प्रवृत होती है, इस में कोई न कोई सूक्ष्म वासना ही कारण है । अनायास सामने आये हुए दृश्य विषयों में जैसे चक्षु इन्द्रिय की बार-बार प्रवृत्ति राग रहित ही होती है । उसी प्रकार अनायास प्राप्त भोगों में अनासक्त भाव से ही धीर पुरुष प्रवृत्त होते हैं । चिर-परिचित पदार्थों के अनन्य चिन्तन के द्वारा जो चित्त में अत्यन्त चञ्चलता उत्पन्न होती है, वही चित्त चाञ्चल्य जन्म, जरा और मृत्यु का एक मात्र कारण होता है । वासना के कारण प्राणों में स्पन्दन होता है । और उस स्पन्दन से पुनः वासना की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार क्रम चलता रहता है ।

-२ -२१-२६

चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज है । प्राण स्पन्दन तथा वासना । इन दोनों में से एक के भी क्षीण होने से दोनों नष्ट हो जाते हैं । अनासक्त होकर व्यवहार करने से, संसार का चिन्तन छोड़ देने से और शरीर की विनश्वरता का दर्शन करते रहने से वासना का उत्पन्न होना बन्द हो जाता है । और वासनाओं का त्याग हो जाने पर चित्त अचित्तता को प्राप्त हो जाता है । अर्थात् उसकी वासनात्मिका प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है । वासना के नष्ट हो जाने पर मन जब मनन करना छोड़ देता है तब मन के निराकृत होने पर परम शान्तिप्रद विवेक की उत्पत्ति होती है । जब तक तुम्हारे अन्दर ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो जाती, जब तक तुम्हें परमपद अज्ञात है, तब तक गुरु तथा शास्त्र प्रमाणों के द्वारा निर्णित मार्ग का आचरण करो । तदन्तर कषायों (दोषों) का परिपाक होने पर जब निश्चय पूर्वक तुम्हें तत्त्वका ज्ञान हो जाये, तब तुम्हें निश्चिन्त होकर समस्त शुभ वासनाओं का भी त्याग कर देना चाहिये ।

- २७-३१

चित्तनाश दो प्रकार होता है । स्वरूप और अरूप । जीवन्मुक्त का चित्तनाश सरूप है और विदेह मुक्त का चित्त अरूप होता है । अर्थात् जीवन्मुक्त का चित्त स्वरूप से रहता तो है पर वह अचित्त हुआ रहता है । और विदेह मुक्त हो जाने पर उसका चित्त स्वरूपतः नाश हो जाता है । जैसे आग में भूने बीज का स्वरूप तो रहता है, किन्तु उसमें पुनः अंकुरित होने की क्षमता नहीं रहती एवं खा लेने या

जलादेने, पीस देने पर वह स्वरूपतः नाश हो जाता है । यही दशा चित्त के स्वरूप तथा अरूप की है । जब तुम्हारा मन चित्त नाश की स्थिति को प्राप्त हो जायगा अर्थात् उसकी अनुसंन्धानात्मिका वृत्ति शान्त हो जावेगी, तब मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा प्रभृत्ति गुणों से युक्त होकर वह परम शान्ति को प्राप्त कर लेगा । इसमें कोई संशय नहीं । जीवनूमुक्त का मन आवागमन से मुक्त हो जाता है । अतः वह उसका मनोनाश सरूप कहलता है । विदेह मुक्ति मिलजाने पर जो मनोनाश हो जाता है, वह अरूप कहलाता है । इस महान विशाल वट वृक्षरूप संसार का यह मन ही मूल है, और यह मन संकल्प रूप है । संकल्पों को निवृत्त करके उस मनस्तत्त्व को सुखा ड़ालो, जिससे यह संसार वृक्ष भी नीरस होकर सुख जाये । अपने मन के निग्रह का एक ही उपाय है, कि मैं मन नहीं हूँ, मैं मन का साक्षी आत्मा हूँ । एसा निश्चय करना ही मन का नाश है । ज्ञान से ही स्थायी मनोनाश होता है । समाधि द्वारा उतने ही काल के लिये शान्त हो पाता है । समाधि रहित स्थिति में वह पुनः वेतालों की भांति हृदय में वासनाओं का वेग खड़ा कर देता है । अज्ञानि का मन उसके लिये बन्धन का कारण है । वासनाओं का वेग तभी तक रहता है जब तक एक आत्म तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से मन पर विजय नहीं करली जाती । जिनका चित्त और अभिमान क्षीण होगये हैं और इन्द्रिय रूपी शत्रु वश में होगये हैं उनकी भोगवासनाएँ उसी प्रकार क्षीण हो जाती हैं जैसे हेमन्त ऋतु के आने पर कमलिनी (कमल का पौधा) स्वयमेव नष्ट हो जाता है । पूर्ण चेष्टा द्वारा सर्व प्रथम अपने मन को जीतना चाहिये । बारम्बार एकाग्र चित्त होकर सत्संग में बैठने तथा सद्‌युक्ति के द्वारा आत्म चिन्तन करने के अतिरिक्त मन को जीतने का दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

- ३२-४१

जिस प्रकार मद मत्त हाथी अंकुश के बिना वश में नहीं आता, उसी प्रकार चित्तको वश में करने के लिये अध्यात्म-विद्या का ज्ञान, सत्स‘ति, वासनाओं का भली भाँति परित्याग तथा प्राण वायुका निरोध अर्थात् प्राणायाम ये प्रबल उपाय है । इन श्रेष्ठ युक्तियों के रहते हुए जो हठ पूर्वक चित्त को निरुद्ध करने की चेष्टा करते है, वे ज्ञान दीपक को छोड़ अज्ञान अन्धकार में भटकते रहते हैं । जो मूढ़ पुरुष हठ से चित्त को वश में करने का उद्योग करते हैं वे उन्मत्त हाथी को कमल नाल के तन्तुओं से बाँधने की चेष्टा करते हैं । वृत्ति रूप लताओं के आश्रयभूत चित्तरूपी

वृक्ष के दो बीज है । एक है प्राणों का स्पन्दन (गति), दूसरी दृढ़ भावना । चित्त की एकाग्रता से ज्ञान की प्राप्ति होती है । और उससे मुक्ति लाभ होता है । अतएव चित्त की एकाग्रता हेतु ध्यान की यथोचित विधि बत लायी जाती है ।

- ४२/४७

चित्त सर्वथा विकारहीन न हो, तो भी यह अरिष्ट के तिरोभाव के क्रम से केवल चैतन्य - चिदानदं स्वरूप परब्रह्म का चिन्तन करो । जिसक्षण चित्त चिदानन्द में स्थित होता है वह यश की स्थिति है तथा जिसक्षण उससे हटता है वह अरिष्ट की स्थिति है । चित्त की चन्चलता के कारण यह स्वाभाविक स्थिति होती है । अतएव अरिष्ट कर स्थिति से पुनः पुनः यश की स्थिति में चित्त को स्थापित की परब्रह्म के चिन्तन में लगा । अपान वायु को भीतर रोक दिये जाने पर जब तक हृदय में प्राण वायु का उदय नहीं होता तब तक वह कुम्भकावस्था रहती है, जिसका योगी लोग अनुभव करते हैं । और प्राण वायु के बाहर रोक दिये जाने पर जबतक अपान वायु का उदय नहीं होता, तब तक जो पूर्ण समावस्था रहती है । उसे बाह्य कुम्भक कहते हैं ।

- ४८-५०

चिरकाल तक अभ्यास करने से अंहकार विलुप्त हो जाता है । मनोवृत्ति ब्रह्माकार में प्रवाहित होने लगती है, तब उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं । जब चित्त की सारी वृत्तियाँ शान्त हो जाती है, उस समय परमानन्द प्रदान करने वाली असम्प्रज्ञात समाधि होती है । उस अवस्था में मन,बुद्धि लय होजाने के कारण कुछ भी भान नहीं रहता है । केवल चित स्वरूप की अवस्थिति होती है । इस समाधि में ऊपर, नीचे, तथा बीच में सर्वत्र शिव स्वरूप पूर्ण ब्रह्म ही अनुभूत होते हैं । यह समाधि परमार्थ अर्थात् मोक्ष स्वरूप है तथा साक्षात् ब्रह्मा के मुख से उपदिष्ट हुई है ।

- ४९-५४

दृढ़ भावना के द्वारा आगे पीछे का विचार छोड़कर चित्त जो पदार्थ के स्वरूप को ग्रहण करता है, उस चित्त विकार को वासना कहते हैं । कपिश्रेष्ठ ! आत्मा चित्त के तीव्र संवेग से जैसी भावना करता है इतर वासनाओं से मुक्त होकर वह शीघ्र वैसा ही बन जाता है । इस प्रकार वासनाओं के वशीभूत होकर पुरुष जो

कुछ देखता है, उसीको सद्वस्तु - यथार्थ मानकर मोह को प्राप्त होता है । वासना के वेग की विभिन्नता के कारण चित्त अपने वासनात्मक स्वरूप को नहीं छोड़ता । एक वासना के छोड़ते- छोड़ते दूसरी वासना में रमने लगता है । जिस प्रकार नशे के कारण पुरुष की विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार वह दुर्बुद्धि भ्रान्त होकर चौरासी लाख योनियों को भोगता रहता है । मलिनवासना अर्थात् देहभावना ही जन्म-मृत्यु में डालती है । एवं शुभ वासना अर्थात् आत्मनिष्ठा ही आवागमन से छुड़ाती है ।

- ५५-६०

जिस प्रकार बीज के अच्छी प्रकार भुन जाने पर उसमें अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार संसार वासना के नष्ट हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता, अतएव दग्ध बीज के समान वासना रूपी बीज को ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध कर दें ताकि पुनर्जन्म का कारण ही न बने । वायुनन्दन ! चबाये हुए को चबाना जैसे व्यर्थ होता है उसी प्रकार नाना प्रकार के शास्त्रों की आलोचना से क्या लाभ ? प्रयत्न होना चाहिये भीतर प्रकाश को खोजने के लिये ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढ़ोऽयं नाभि जानाति लोको मामजमव्ययम् ।

- ६/२५

दर्शन तथा अदर्शन (सत्-ख्याति तथा असत् ख्याति) दोनों को छोड़कर जो स्वयं कैवल्य रूप में स्थित रहता है वह ब्रह्म विद् नहीं, स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही है ।

चारों वेदों का और अनेकों शास्त्रों का अध्ययन करके भी जो ब्रह्म तत्त्व को नहीं जानता, वह परमानन्द से उसी प्रकार वंचित् रहता है । जैसे कलछुल, थाली भोजन के पदार्थ में रहती हुई भी उनके रस को नहीं जानती । जिसका अपने शरीर की अपवित्र गन्ध को प्रयत्क्ष करके भी उसको अपने तथा दूसरे के शरीर से वैराग्य नहीं होता, उसको वैराग्य पैदा कराने वाला दूसरा कौन-सा उपदेश दिया जा सकता है ?

- ६१-६४

शरीर अत्यन्त मलयुक्त है और आत्म अत्यन्त निर्मल है । दोनों के भेद

को जानकर किसकी सुचिता का उपदेश किया जाय। जो वासना से बंधा है वही बद्ध है, और वासनाओं का नाश ही मोक्ष है। अतएव वासनाओं का सम्यक् रूप से परित्याग करके मोक्ष-प्राप्ति की वासना का भी त्याग करो। फिर उसे भी मन और बुद्धि के सहित त्याग कर आत्मा में पूर्णतया समाहित हो जाओ वही मेरा निगुर्ण, निराकार निष्कल सत- चित- आनन्द स्वरूप है। जो शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित, गन्ध रहित है जो कभी विकार को प्राप्त नहीं होता। जिसका कोई नाम, रूप नहीं, कोई विकार नहीं है, जो त्रिताप हरण है, हे पवनतनय ! उसी निजात्म स्वरूप का सोऽहम् रूप में भजन करो।

- ६५-६०

हे हनुमान् ! जो साक्षी स्वरूप है वह आकाश के समान अनन्त है, जिसे एक बार जानलेने पर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, जो अजन्मा, अद्वितीय, निर्लेप, सर्वव्यापी एवं सर्वश्रेष्ठ है, जो अकार-उकार तथा मकार रूप तीन कलाओं से युक्त तथा सम्पूर्ण कलाओं से विमुक्त अद्वय-तत्त्व है, वह ओंकार रूप अक्षर-अविनाशी ब्रह्म मैं ही हूँ। मैं द्रष्टा हूँ, शुद्ध ब्रह्म हूँ कभी भी विकार को प्राप्त नहीं होता, और मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, जो मेरा विषय बने अर्थात् मेरा द्रष्टापन भी कहने के लिये ही है; क्योंकि मैं ही सर्वत्र परिपूर्ण भूमा हूँ। हे हनुमान ! तुम अपने इस सत्यस्वरूप का चिन्तन करो कि मैं अज हूँ, अमर हूँ अमृत हूँ, स्वयंप्रकाश हूँ, सर्वव्यापी हूँ, अव्यय-अविनाशी हूँ, मेरा कोई कारण नहीं मैं स्वयंभू हूँ। इस प्रकार तुम सोऽहम् रूप अभेद भाव से चिन्तन करो। इस प्रकार चिन्तन करते-करते जब प्रारब्ध अनुसार किसी भी अवस्था में तुम्हारा शरीर पात होगा तब जीवन्मुक्त दशा को छोड़ विदेह मोक्ष-निर्वाण को प्राप्त हो जाओगे। इसमें किंचित भी सन्देह नहीं करना। इस प्रकार जो भी ज्ञानी-चिन्तन करता है कि मैं ब्रह्म हूँ वह-यह सर्व हो जाता है। उसके पराभव में कोई भी देवता समर्थ नहीं होते; क्योंकि कि वह उनका भी आत्मा हो जाता है। और जो अन्य देवता कि 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार भेद उपासना करता है वह अपने व्यापक सर्वरूप आत्म स्वरूप को नहीं जानता है। ऐसा अज्ञानि मन्दबुद्धि वाला देवताओं का पशु कहलाता है।

- ७१-७६

(द्वितीय अध्याय समाप्त)

FFF

अध्यात्म रामायण

बाल कांड- प्रथम सर्ग

शिव पार्वति से कहते हैं : - हे पार्वती !

जब भक्त हनुमान रामचन्द्रजी की समस्त सेवा निष्काम भाव से कर समस्त पुर वासियों के मध्य में बैठे हुए राम से अपने कल्याणार्थ मुक्तिज्ञान की अभिलाषा से अपने दोनों हाथ जोड़कर खड़े हुए । तब भगवान ने मुमुक्षुता देख सीता जी से ऐसा कहा - हे सीते ! यह हनुमान हम दोनों में अत्यन्त भक्ति रखता है और निष्पाप है अतएव ज्ञान का सुयोग्य पात्र है । अतः तुम इसे मेरे तत्त्व का उपदेश करो ।

- २१-३०

तब लोक विमोहिनी जनक नन्दिनी सीता जी श्री राम चन्द्रजी से बहुत अच्छा कहकर शरणागत हनुमान को भगवान राम का निश्चित तत्त्व बताने लगी ।
॥३१॥

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
सर्वोपाधि-विर्निमुक्तं सत्ता-मात्रमगोचरम् ॥ ३२
आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
सर्व व्यापिन-मात्मानं स्वप्रकाश मकल्मषम् ॥ ३३

वत्स हनुमान ! तुम राम को अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म समझो; ये निःसन्देह समस्त उपाधियों से रहित सत्तामात्र, मन तथा इन्द्रियों के अविषय आनन्दघन निर्मल शान्त, निर्विकार, निरंजन, स्वयं प्रकाश और पापहीन सर्व व्यापक आत्म स्वरूप है ।

मां विद्धि मूल प्रकृतिं सर्ग स्थित्यन्त कारिणीम् ।
तस्य सन्निधि मात्रेण सृजामीद मतन्द्रिता ॥ ३४

और मुझे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करने वाली मूल प्रकृति जानों । मैं ही निरालस्य होकर उनकी सन्निधि मात्र से इस विश्व की रचना किया करती हूँ ।

किन्तु मेरी रचना को बुद्धि हीन लोग इन साक्षी में (ब्रह्म स्वरूप राम में) आरोपित करलेते हैं ।

रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच-
त्याकांक्षते त्यजति नो न करोति किञ्चिन ।
आनन्द-मूर्ति-रचलः परिणाम -हीनो
माया गुणाननुगतो हि तथा बिभाति ॥४३॥

ये अधिष्ठान रूप राम तो वास्तव में न चलते हैं न ठहरते हैं, न शोक करते हैं, न इच्छा करते हैं, न त्याग करते हैं, और न कोई अन्य क्रिया ही करते हैं । ये आनन्द स्वरूप अविचल और परिवर्तन से रहित हैं, केवल माया के गुणों में व्याप्त होने के कारण ही ये वैसे (नाम रूपादिक प्रपञ्च रूप में) भासते हैं । अर्थात् ये ब्रह्मरूप राम स्वरूपतः निर्विकार व निराकार सामान्य चेतन होते हुए भी जिस-जिस माया के गुणों में विशेष रूप से प्रवेश करते हैं, अर्थात् वे समान्य चेतन रूप से विशेष चैतन्य नाम रूप धारण कर प्रकट होते हैं । तब उस-उस रूप से भासते हैं, अर्थात् प्रतीत होते हैं ।

उपरोक्त इस कथन से भी सिद्ध होता है कि जो रामकृष्णादि अवतारी पुरुषों के शरीर दीखते हैं वे, सब मायिक हैं, किन्तु साधारण प्राणी की तरह पंच भौतिक नहीं है । बल्कि उनके उपादान का कारण साक्षात् माया है । क्योंकि जैसा जीवों को देह धारण का कारण अपना प्रारब्ध भोग होता है, वैसा इन अवतारों को अवतरित होने का कारण अपना प्रारब्ध भोग नहीं होता है ।

जीव अविद्या मलिन सत्वगुण माया से है

ईश माया सत्वगुण से युक्त होता हैं ।

माया ह्येषा मया श्रृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।

सर्व भूत गुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ।।

- मोक्षधर्म

हे नारद ! सब भूतों-गुणों से युक्त जिस मुझको तुम देखते हो यह तो मेरी रचि हुई माया है । मुझे तो तुम चर्म चक्षुओं से देख ही नहीं सकते । अर्थात् जो मैं तुम्हें शरीर रूप से दिख रहा हूँ, यह मेरा दर्शन नहीं है, किन्तु मेरी माया का ही दर्शन है ।

FFF

ब्रह्मबिन्दुपनिषद्

'कृष्ण यजुर्वेदीय'

मन के लय का साधन, आत्मा का स्वरूप तथा ब्रह्म प्राप्ति का उपाय

ॐ मन दो प्रकार का बताया गया है । एक शुद्ध दूसरा अशुद्ध । जिसमें विषय भोग की कामना हेतु संकल्प उठते रहते है वह अशुद्ध मन है, तथा जिसमें विषय भोगों की कामना हेतु संकल्प नहीं फुरते वही शुद्ध मन है । मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण यह मन ही है ।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो'

- 'परासर'

अतः मुमुक्षु को विषय से सदा दूर ही रहना चाहिये ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।

- श्रीभवद् गीता : १६/२१

क्योंकि विषय संकल्प से शून्य होने पर ही इस मन का लय होता है । तभी वह उन्मनीभाव को प्राप्त हो जाता है । अर्थात् संकल्प विकल्प रहित हो जाता है ।

तब वह परम पद है । मन का हृदय में लय हो जाना - यही ज्ञान एवं मोक्ष है इसके सिवा जो कुछ है वह ग्रन्थ का विस्तार मात्र है । जब एक या दो, अद्वैत या द्वैत, चिन्तनीय व अचिन्तनीय कोई भी पक्षपात में मन न ठहरे उस समय वह साधक ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है । प्रणव (स्वर) के साथ परमात्मा की एकता करे अर्थात् श्वाँस प्रश्वाँस से 'सोऽहम्' भाव का मनन करें (एकत्व) और फिर प्रणव नाम से अतीत नामी परमतत्त्व की भावना (चिन्तन) करें इस भाव के बिना समाधि शून्य होती है । वही कलाओं से रहित अवयव हीन, विकल्प शून्य एवं निरञ्जन - मायारूप मल रहित ब्रह्म है । 'वह ब्रह्म मैं हूँ' यों जानकर मनुष्य निश्चय ही ब्रह्म हो जाता है । विकल्प शून्य, अनन्त हेतु और दृष्टान्त से रहित अप्रमेय तथा अनादि परमकल्याणमय ब्रह्म को जानकर विद्वान् पुरुष अवश्य ही ब्रह्म स्वरूप हो जाता है ।

न संहार है न सृष्टि, न बन्धन है, न उससे छूटने का उपदेश; न मुक्ति की इच्छा है न मुक्ति । ऐसा निश्चय होना ही परमार्थ बोध (यथार्थ ज्ञान) जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में एक ही आत्मा का सम्बन्ध को मानना चाहिये । जो इन तीनों अवस्था से पृथक् अपने आत्मा स्वरूप को जानता है अर्थात् इन तीनों शरीरों में अनस्युत में आत्मा इन तीनों का द्रष्टा हूँ ऐसा जो निश्चय पूर्वक निःसन्देह जानता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता । सम्पूर्ण भूत प्राणीयों का एक ही अन्तर्यामी आत्मा प्रत्येक प्राणी के भीतर स्थित है ।

'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'

- गीता : १८/६१

पृथक्-पृथक् जल में प्रतिविम्ब पड़ने वाला चन्द्रमा की भाँति वह एक ही अनेक रूपों में होकर दृष्टि गोचर हो रहा है । घट स्थित आकाश जैसे घट के नाश होने पर ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है । उसका नाश नहीं होता । उसी प्रकार देहधारी जीव भी आकाशवत् ही है । देह का नाश से उसमें स्थित आत्मा का नाश नहीं होता । यह शरीर घटवत् ही है । जो बार-बार बनता बिगड़ता रहता है । और यह नष्ट होने वाला जड़ शरीर अपने भीतर परिपूर्ण चिन्मय ब्रह्म को नहीं जानता परन्तु वह सर्वसाक्षी चेतन परमात्मा सब शरीरों को सदा ही जानता है ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतपः ॥

- गीता : ४/५

जीवात्मा जबतक नाममात्र का अस्तित्व रखने वाली माया से आवृत है । तब तक हृदय कमल नाल तन्तुओं में बद्ध की भाँति स्थित रहता है । जब अज्ञानमय अन्धकार का किसी सद्गुरु की ज्ञानाञ्जन शलाका से अभाव हो जाता है । तब ज्ञान के आलोक में विद्वान पुरुष जीवात्मा और परमात्मा की नित्य एकता का ही दर्शन करता है ।

नाशयात्म्यात्मभावस्थो ज्ञान दीपेन भास्वता

- गीता- १०-१९

शब्द ब्रह्म (प्रणव) भी अक्षर है । और परब्रह्म भी अक्षर है । इनमें से जिसके क्षीण होने पर जो एक अक्षय बना रहता है वह परब्रह्म ही वास्तव में अक्षर (अविनाशी) है । विद्वान् पुरुष यदि अपने लिये शान्ति चाहे तो उस अक्षर परब्रह्म का ही ध्यान करे । दो विद्याएँ जानने योग्य हैं । एक तो वह, जिसे 'शब्द ब्रह्म' कहते है, और दूसरी वह जो 'परब्रह्म' के नाम से प्रसिद्ध है । शब्दब्रह्म (वेदशास्त्रों के ज्ञान) में पार'त होने पर मनुष्य परब्रह्म को जान लेता है । बुद्धिमान पुरुष ग्रन्थ का अभ्यास करके उससे ज्ञान विज्ञान के तत्त्व का ग्रहण करले, फिर समस्त ग्रन्थ को त्याग दे । जैसे अन्न चाहने वाला घास, चारा, भूसा, पुआल का त्याग कर देता है । जैसा दूध में घृत, तिलों में तेल, काष्ट में अग्नि 'गुप्त रूप से स्थित है उसी प्रकार प्राणी के भीतर विज्ञान (चिन्मय ब्रह्म) निवास करता है । अतः ज्ञानदृष्टि द्वारा ऐसा निश्चय रूप अनुभव करे कि 'वह कलाशून्य निर्मल एंव शान्त परब्रह्म मैं हूँ', जिसमें सम्पूर्ण भूत निवास करते हैं । तथा जो स्वयं भी सम्पूर्ण भूतों के (हृदय) में स्थित रहता है । सब पर दया करने के कारण प्रसिद्ध है । वह सर्वात्मा वासुदेव मैं हूँ वह सर्वात्मा वासुदेव मैं हूँ ।

जो कुछ देखने या सुनने में आता है, उस सब को भीतर बाहर से व्याप्त करके नारायण स्थित है । वह सर्वाधिष्ठान आत्मा मैं हूँ ।

यच्च किंचित् ज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूतयोऽपि वा ।

अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ।।

- नारायणोप.

FFF

कौषीतकि उपनिषद्

सोऽहम्, अहंब्रह्मास्मि, शिवोऽहम् निष्ठा में दृढ़ ब्रह्मवेता समस्त क्रियाओं का द्रष्टा होने के कारण उसका किसी शुभाशुभ से सम्बन्ध नहीं रहता है । क्योंकि द्रष्टा सदैव दृश्य से भिन्न ही रहता है । इसी कारण वह पुण्य-पाप को अपने से भिन्न मन के अन्दर देखता है । जैसे वह रात, दिन को देखता है अन्य समस्त द्वन्दों को देखता है, उसी तरह पुण्य-पाप को भी देखता है । अतएव वह पुण्य-पाप से रहित होता है । फलतः वह ब्रह्मवेता ब्रह्म को ही प्राप्त होता है ।

'ब्रह्मवित ब्रह्मैव भवति'

जो उसके प्रिय, कुटम्बी, सत्संगी, आज्ञाकारी, सेवक होते हैं, वे तो उस साक्षी भाव में स्थित ज्ञानी को पुण्यों को भोगते हैं; और जो उनसे द्वेष करने वाले होते हैं उन्हे उसका पाप भोगने को मिलता है ।

तृतीय अध्याय

ब्रह्मविद्या का महिमा

देवराज इन्द्र ने राजा प्रतर्दन को कहा - मैं तुम्हे क्या वर दूँ ? प्रतर्दन बोले :- जिस वर को आप मनुष्य के लिये परम कल्याण रूप मानते हैं, वैसा कोई वर मेरे लिये आप स्वयं प्रदान करें ।

उन प्रसिद्ध देवता इन्द्र ने कहा - ''प्रतर्दन ! तुम अपने आत्म स्वरूप को भली भाँति जानो; क्योंकि यह आत्मबोध ही जीव के परम कल्याण का एक मात्र साधन है । इसके अतिरिक्त सभी साधन मार्ग जीव को तत्कालिक काल्पनिक सुख देकर बन्धन को ही प्राप्त कराने वाले हैं ।

हे राजन् ! मैंने प्रजापति के पुत्र विश्वरूप को जो अपनी कामनाओं को पूर्ण करने हेतु अन्य देवताओं की भेद रूप से भक्ति करता था, उसको अपने वज्र से मारडाला ।

हे राजन ! कितने ही नामधारी, वेषधारी, मिथ्या संन्यासियों को जो अपने आश्रमोचित आचार से भ्रष्ट एवं ब्रह्म विचार 'सोऽहम्' भाव से विमुख रहने वालों के टुकड़े-टुकड़े करके भेड़ियों, गिद्धों, कुत्तों , कौवों, चीलादिकों के सम्मुख डाल दिये ।

हे राजन् ! किन्तु मुझमें कर्तापन का अभिमान नहीं है, मेरी बुद्धि कहीं भी लिप्त नहीं होती । कर्मफल की इच्छा मेरे मन में कभी उत्पन्न नहीं होती, अतएव कोई भी शुभाशुभ कर्म मुझे बन्धन में नहीं डालता ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न सबध्यते ।।

गीता ४-१४

यस्य नाहं कृतभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँहलोकान् न हन्ति न निबध्यते ।।

गीता १८/१७

हे राजन् ! निजात्म स्वरूप को जानने वाले ज्ञानी पुरुष को त्रिलोकी का बड़े से बड़ा कोई भी पाप हानि नहीं पहुँचा सकता । उससे पुण्य-पाप स्पर्श नहीं करपाते; क्योंकि उसके अन्तःकरण में उससे हुए शुभाशुभ कर्मों के प्रति कर्ताभाव का सर्वथा अभाव ही रहता है । पाप कर्म हो जाने पर भी उसकी प्रतिभा ज्यों की त्यों बनी रहती है । अज्ञानि की तरह उसके मुख पर नील आभा नहीं पड़ती, उसका मुख काला नहीं पड़ता ।

हे राजन् ! यह महिमा केवल 'ब्रह्मज्ञान' की महिमा बढ़ाने हेतु तुम से कहा है, न कि पाप कर्मों का समर्थन करने के लिये । वस्तुतः अहंकार रहित राग-द्वैष शून्य पुरुष से पाप कार्य होने का कोई हेतु ही नहीं होता ।

उस आत्मा की उपलब्धि दृष्टान्त इस प्रकार है । जैसे नारीयल के भीतर गरी, फलों के भीतर रस, भूमि के भीतर जल छुपा रहता है, उसी प्रकार यह

प्रज्ञावान् आत्मा इस शरीर में नख से शिखातक व्याप्त है । उस इस साक्षी आत्मा का ये वाक्, पाणि, पाद, लिंग तथा गुदा आदि अपने-अपने कार्य में ठीक उसी तरह लग जाते हैं जैसे श्रेष्ठ गुणों से युक्त धनी का उसके आश्रित रहने वाले अनुसरण करते हैं , अनुवर्तन करते हैं ।

जिस समय सोया हुआ पुरुष सुषुप्ति अवस्था में कोई स्वप्न नहीं देखता, उस समय वह जीव इस प्राण में ही एक भाव को प्राप्त हो जाता है । उस समय वाक् सम्पूर्ण नामों के साथ - इस प्राण में लीन हो जाती है । नेत्र समस्त रूपों के साथ इसी प्राण में लीन हो जाता है । कान समस्त शब्दों के साथ प्राण में ही लीन हो जाता है तथा मन भी सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयों के साथ इस प्राण में ही लय को प्राप्त होता है । फिर जब वह पुरुष जाग उठता है, तब उस समय जैसे सूर्य उदय हो जाने से सभी पशु, पक्षी, मनुष्य अपने-अपने दिनचर्या में लग जाते हैं, ठीक उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त वाक् आदि प्राण निकल कर अपने-अपने भोग्य स्थान की और जाते हैं ।

हे राजन् ! जबतक् मैंने इस आत्मा को नहीं जाना था, तभी तक असुर लोग हमें भयभीत कर परास्त कर देते थे, किन्तु जब से मैंने इस आत्मा को जाना है तब से मैं इन असुरों को मारकर एवं जितकर निर्भयता से जीवन्मुक्ति का अनुभव कर रहा हूँ । इस आत्मविद्या को जो भी सद्गुरु से जान लेता है वह विद्वान् सम्पूर्ण पापों का नाश करके समस्त प्राणीयों में भी श्रेष्ठतम पद को प्राप्त कर लेता है ।

FFF